o सम्पादक -

देवेन्द्रनाथ शर्मा : गोपालराय

अपने लघु-उद्योग के विकास के लिये आपको चाहिये पूँजी

वर्ष ६, अंक ३-४
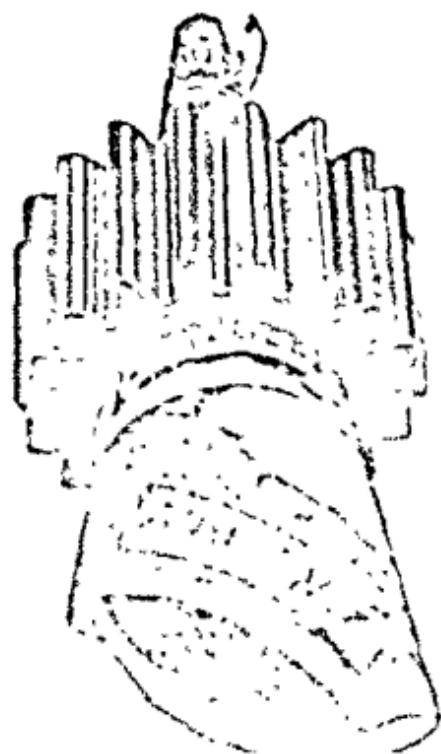
समीक्षा

प्रधान सम्पादक : देवेन्द्रनाथ शर्मा

सम्पादक : गोपाल राय

सम्पर्क

समीक्षा कार्यालय, रानीघाट, पटना-६

फोन : २११४७

शुल्क : पन्द्रह रुपये मात्र :: एक प्रति का मूल्य : सवा रुपया मात्र

एकमात्र वितरक : ग्रन्थ निकेतन, रानीघाट, पटना-६

प्रकाशन तिथि : १५ अगस्त १९७२

ख

समीक्षक

पुस्तकें

उपन्यास

कहानी संग्रह

नावाला'
खटकती
के मुँह से
ध्याधि को
ठीक वही
। वह स्वयं
यंता और
ारित तथा

विहित है।
ता, जमीन-
। (घोड़ा),
' प्रत्यय से
त्पर्य कि जो
ता है किन्तु
प्रत्यय जोड़ने
कोई अर्थगत

मानी जाती,
जी का 'फ़ुल'
l, dutiful,
हो, मूर्ख भी)
में कोई (मूर्ख
ोमा छूनेवाले
कभी भाषा में
। हिन्दी की
लिये समर्थना

न्द्रनाथ शर्मा

कविता

शोध समालोचना

सम्पादकीय

नयावाला-पुरानावाला

हिन्दी के एक प्रबुद्ध प्राध्यापक बातचीत के प्रसंग में धड़ल्ले से 'नयावाला, पुरानावाला' आदि शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। केवल प्राध्यापक होते तो शायद बात उतनी नहीं खटकती क्योंकि आजकल योग्य ही व्यक्ति प्राध्यापक होता हो, ऐसा नहीं देखा जाता किन्तु जिनके मुँह से ये प्रयोग सुनने को मिले वे योग्य हैं और भाषा के प्रति सचेत भी। उनके प्रयोग से व्याधि की व्यापकता का अनुमान हुआ। कहा जाता है कि वैद्य का रोग दुश्चिकित्स्य होता है। ठीक वही स्थिति यहाँ है। दूसरे भूल करें तो प्राध्यापक सुधार सकता है पर वैद्य की भाँति जब वह स्वयं रुग्ण हो जाए तो उसकी चिकित्सा कौन करे? शिष्ट और अशिष्ट प्रयोग में स्वीकार्यता और अस्वीकार्यता का ही भेद नहीं है; इससे भी बड़ा भेद यह है कि अशिष्ट प्रयोग अविचारित तथा अज्ञानप्रसूत होता है जिसे ग्रहण करना स्पष्टतः शिष्टताविरोधी है।

'वाला' प्रत्यय अनेक अर्थों—जैसे कर्तृत्व, स्वामित्व, सम्बन्ध आदि—में विहित है। खानेवाला, पीनेवाला, पढ़नेवाला, लिखनेवाला आदि में 'वाला' कर्तृत्व का; घरवाला, जमीनवाला, पैसेवाला, दूकानवाला आदि में स्वामित्व का और हलवाला (बैल), इक्केवाला (घोड़ा), पानीवाला, आदि में सम्बन्ध का वाचक है। कहने की अवश्यकता नहीं कि 'वाला' प्रत्यय से निष्पन्न सभी शब्द विशेषण होते हैं अर्थात् 'वाला' विशेषण-निष्पादक प्रत्यय है। तात्पर्य कि जो विशेषण नहीं है (जैसे क्रिया या संज्ञा) उसमें विशेषण बनाने में 'वाला' का उपयोग होता है किन्तु जो विशेषण है ही, जैसे नया, पुराना, अच्छा, लाल आदि, उसमें विशेषण-निष्पादक प्रत्यय जोड़ने का क्या अर्थ? नयावाला, पुरानावाला, अच्छावाला, लालवाला में अशुद्धि तो है ही, कोई अर्थगत स्वारस्य या वैशिष्ट्य भी नहीं है।

चूँकि इस देश में कोई बात अँगरेजी के समर्थन के बिना प्रामाणिक नहीं मानी जाती, इसलिये लगे हाथ अँगरेजी के भी प्रयोग देख लें। 'वाला' से मिलता जुलता अँगरेजी का 'फुल' (full) प्रत्यय ले लें। यह 'full' संज्ञा शब्दों से ही लगता है जैसे beautiful, dutiful, ravengeful, careful, विशेषणवाची शब्दों से कभी नहीं। कोई (विद्वान् तो नहीं ही, मूर्ख भी) newful, oldful, goodful, redful नहीं कहता, नहीं कह सकता किन्तु हिन्दी में कोई (मूर्ख ही नहीं, विद्वान् भी) कुछ भी कह सकता है, कहता है! अराजकता की सीमा छूनेवाले अविचारिताभिधान के जैसे उदाहरण हिन्दी में देखने को मिलते हैं वैसे शायद ही किसी भाषा में मिलें। हिन्दी का शब्दानुशासन कोई जानने को उन्मुख नहीं, मानने को प्रस्तुत नहीं। हिन्दी की नाव में अपप्रयोगों के छिद्र न बढ़ें, अनुशासन की पतवार ढीली न पड़े, इसके लिये सतर्कता आवश्यक है।

—देवेन्द्रनाथ शर्मा

ग्राहकों से निवेदन

'समीक्षा' एक साहित्यिक दुस्साहस है। ग्राहकों से उसका सम्बन्ध मात्र व्यावसायिक नहीं है। यह मानी हुई बात है कि 'समीक्षा' के ग्राहक हिन्दी के सामान्य पाठक नहीं हैं। ये वे पाठक है जो एक तरफ तो साहित्यिक गतिविधियों में दिलचस्पी रखते हैं और दूसरी तरफ 'समीक्षा' जैसे साहित्यिक प्रयास को मरने नहीं देना चाहते। हमारे कुछ ग्राहक ऐसे भी हैं, जो हमसे व्यक्तिगत सम्बन्ध के फलस्वरूप 'समीक्षा' के ग्राहक है। इस प्रकार 'समीक्षा' के ग्राहक 'समीक्षा-परिवार' के सदस्य हैं।

हम अपने सभी सदस्यों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

साथ ही एक निवेदन भी है। सदस्यता-शुल्क समाप्त होने के एक माह पूर्व हम अपने सभी सदस्यों के पास अगले वर्ष की सदस्यता का बिल भेज देते हैं। एक महीने बाद हम स्मरण-पत्र भेजते हैं। इस पर भी यदि किसी सदस्य का शुल्क या सदस्यता समाप्त करने का आदेश नहीं आता तो हम अगला अंक वर्ष भर के शुल्क की वी० पी० से भेजते है। हम खेद के साथ सूचित करते हैं कि बहुत से ग्राहकों के यहाँ से वी०पी०याँ वापस लौट आती हैं, जिससे 'समीक्षा' को भारी हानि उठानी पड़ती है।

अतः निवेदन है कि हमारे जो सदस्य किसी भी कारण से अपनी सदस्यता समाप्त करना चाहते हों वे हमें तत्काल पत्र लिख दें ताकि उनके पास वी० पी० भेज कर हमें नुकसान न उठाना पड़े।

—गोपाल राय

उपभोक्ता ही उपास्य

बिहार राज्य में, विशेषतः न्यून विकसित क्षेत्रों में, तेजी से विद्युत् का विकास करना ही हमारा संकल्पित सेवा-व्रत है, और हम बिहार राज्य विद्युत् बोर्ड के कर्मचारी, जो अपनी प्यारी मातृभूमि तथा जनता को सर्वतोभावेन समर्पित हैं, आज के इस महान् और चिरस्मरणीय पर्व में, अपने इस पवित्र संकल्प को पूरी दृढ़ता से दुहराते हैं।

हमारी दृष्टि में, कर्म ही पूजा, सेवा ही मन्त्र, उपभोक्ता ही उपास्य, सत्य ही आदर्श, और परम्परा तथा संस्कृति ही हमारी आत्म-[illegible]र्शित है।

— जन सम्पर्क पदाधिकारी
[illegible]ार राज्य विद्युत् बोर्ड
द्वारा प्रसारित।

विशेष लेख

जिन्दगी के समान्तर चलती कथा की नयी विचार-पद्धतियां

—रामदेव आचार्य

साहित्य की अन्य विधाओं के मुकाबले कहानी को पहले से ही यह सुविधा प्राप्त है कि वह जिन्दगी के समान्तर अपने विचार-क्रम को संगठित रख सकती है। कविता जीवन की भाव-वाचकता की अनुभूति तो कराती है, पर अपनी अमूर्तता के कारण वह जीवन की मांसपेशियां रेखांकित करनेवाली प्रत्यक्ष और सम्पूर्ण झांकी नहीं दे पाती। उपन्यास समान्तर चलते जीवन के पुनर्निर्माण के प्रति तो उत्तरदायी रहता है, पर अपने व्यापक परिवेश के कारण उसका सृजन-कर्म बहुत धीमी और मन्द गति से चलता है। फिर अपने व्यापक सत्य की सम्प्रेषणीयता के लिए वह पाठक से भी एक लम्बी समर्पितता की अपेक्षा रखता है।

कहानी अपनी प्रकृति में ही ऐसे तनावों से मुक्त होती है। अपने छोटे छोटे दायरों में वह जीवन के विविध घटना-क्रमों को गूंथती रहती है, समय के विचार-प्रवाह के साथ साथ अपनी कथ्य-भंगिमाओं को परिवर्तित करती रहती है तथा काल की समस्त पदचापों को अपने रचना-संसार में प्रतिध्वनित करती रहती है। इस प्रकार कथा का घटनाचक्र जीवनक्रम के साथ साथ यात्रा करता चलता है। भौतिक परिवेश में घटित होनेवाले तथ्य कला के परिवेश में रूपान्तरित होकर शाश्वत सत्य बन जाते हैं। इस प्रकार कथा साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक सरलीकृत विधा है, जो अपने दृश्यों और पात्रों में समय का प्रतिनिधित्व करती है, और अपने कलात्मक स्पर्शों से सामयिक जीवन को शाश्वत और सार्वकालिक बनाती है।

कथा की इस काल-सार्थकता की पृष्ठभूमि में यदि हम इधर की कहानी की वैचारिक दिशाओं को व्यंजित करने का प्रयत्न करें तो कथाकार की जीवन-दृष्टि से उजागर होते कई मानवीय सत्यों से हमारा साक्षात्कार होगा। इधर की कहानी अपनी भाषा और भंगिमा में समग्र जीवन के विविध आयामों को विश्लेषित करती रही है। स्वातन्त्र्योत्तर कथा-पीढ़ियां न केवल कथा के कलेवर और स्वरूप को ही बदलती रही हैं, बल्कि उन्होंने पूरे समकालीन जीवन की संस्कृति को सच्ची भाषा और गहराई से रेखांकित किया है। परिणाम यह हुआ है कि समकालीन कथा भाषा, भंगिमा और दृष्टि में एक गरिमा अर्जित करती गयी है, जो उसे विश्व के कथा साहित्य के अनुरूप रखती है। आत्म-विस्मृति में डूबे पश्चिम-प्रेमियों की चर्चा जाने दें, जिन्हें पूर्व में अंधकार के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आता, और जिन्हें सभ्यता-संस्कृति, साहित्य, शालीनता, शिल्प और सत्य के दर्शन केवल पश्चिम में ही होते हैं। जो लोग अपनी जमीन को बंजर ही समझने के अभ्यस्त हो गये हैं, उनसे किसी तरह का तर्क करना मगजपच्ची ही कहलाएगा, पर समकालीन भारतीय कथा के किसी भी निष्ठावान अध्येता को कथा की भाव-भंगिमाओं और प्रवृत्तियों से निराशा नहीं होगी। विशेषकर उन औसत दर्जे के कथाकारों से, जो अभी अपनी विशिष्टता तो स्थापित नहीं कर पाये हैं, पर जो विशिष्ट बनने की प्रक्रिया से अवश्य गुजर रहे हैं।

किसी भी जीवन्त विधा की तरह कथा तेजी से लिखी जा रही है, और इसे सैकड़ों युवा हस्ताक्षरों का सहयोग प्राप्त है। कथा की इस तेज रफ्तार को देखते हुए स्थापित नामों का

टेकर, नारों के घोष से बचता हुआ, अपनी कला के आन्तरिक लोक में डूबता गया, अपनी चना की गहराई को समर्पित होता गया। यदि कहीं विद्रोही स्थितियों की भी सृष्टि करनी ी, तो वह इतनी मार्मिकता से संकेतित होती थी कि गृहीता अपनी संवेदना में उद्वेलित हो ाता था। इस प्रकार कथास्थितियों से ही विद्रोही मानसिकता को संकेतित किया गया और ाब्दहीन परिपक्व शिल्प में परिवर्तन के विद्रोही स्वरों को प्रतिध्वनित किया गया। नवोन्मेषी ाथाकार ने अपने अंचल विशेष की लोक-संस्कृति को भी समझने की कुशलता दिखाई। लोक-ंस्कृति के सतहीपन को छोड़कर नये कथाकार ने लोक-चेतना की आत्मा को समझने की चेष्टा ी। उसने लोकजीवन को लोकभाषा की प्रामाणिकता से लिखा, और अंचलविशेष के उन ोटे छोटे पहलुओं का स्पर्श किया, जिनके संयोजन से सम्पूर्ण सांस्कृतिक उत्स को समझा जा सकता था। जब किसी संस्कृति को उसके खून की रवानगी में, उसकी रस्मों की ताजगी में पहचाना जाता है तो सही जिन्दगी शब्दों में, रूपान्तरित होकर पन्नों में उतर आती है। जहाँ-जहाँ आंचलिक कथाकार दृष्टिसम्पन्न था, वहाँ वहाँ उसने अपने कथा-संसार को एक दार्शनिक जामा पहनाने की भी चेष्टा की। इस प्रकार पात्र और परिवेश के बीच पड़नेवाले अन्तराल को पार किया गया और दोनों को एक दूसरे के पूरक और पर्याय के रूप में अभिव्यक्त किया गया।

नये कथाकार ने कहानी के व्यक्तित्व को नये सिरे से संस्कारित करने के लिए एक नयी रूपक योजना, एक नयी प्रतीक शैली भी तैयार की। नये प्रतीकों, मिथकों और रूपकों की संरचना की गयी। परिणामस्वरूप कहानी में कहीं कहीं कुहरिलता भी आयी। कथाकार का उद्देश्य था—प्रतीकों और मिथकों, रूपकों और अन्तर्कथाओं के माध्यम से जिन्दगी की प्रत्यक्षता के अनुरूप एक सांकेतिक समान्तरता की कला-सृष्टि करना, जिसमे उसने काफी हद तक सफलता प्राप्त की। दो कथासूत्रों को एक ही कहानी मे साथ साथ संचालित कर एक गहरा इफैक्ट पैदा करने की कोशिश भी इस कथाकार ने की।

नवोन्मेषी कथाकार का एक योगदान यह भी रहा है कि उसने परित्यक्त कहे जानेवाले शब्दों का शुद्धीकरण किया और अस्पृश्य शब्दों का पुनरुद्धार किया। अश्लील कहे जानेवाले शब्दों का सृजनात्मक प्रयोग करके उसने भाषा का नया संस्कार किया और एक समृद्ध भाषा-परम्परा की रचना की। जिन प्रचलित पर आम जिन्दगी की रवानगी में बहते अश्लील शब्दों और नंगे मुहावरों से पुराना कथाकार सप्रयास बचता रहा, और अपनी आदर्शवादी दरियादिली के कारण कतराता रहा, उन शब्दों और मुहावरों को अपने रचनाजगत् में बेधड़क समेटता हुआ नया कथाकार अपने कथ्य को आम जिन्दगी के समान्तर खींचता गया। जिन्दगी की समान्तरता की असली गवाही भाषा ही दे सकती है। इस सृजनात्मक तथ्य को नवोन्मेषी कथाकार ने असलियत मे पहचाना। इस प्रकार भाषा घोर यथार्थवादी होती गयी।

भाषा के पुनरुद्धार के साथ साथ खलनायक का पुनरुद्धार भी किया गया। 'विलेन' को पिशाच की योनि से मुक्त किया गया और उसे आदमी के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया। समकालीन जिन्दगी के व्यापक फैलाव मे नायकों की आदर्शवादिता प्राय: विलुप्त हो रही है, और खलनायकीय मनोवृत्ति पालित-पोषित हो रही है। जिन्दगी की प्रामाणिकता को सही अभिव्यक्ति देने के लिए खलनायक को सामान्य आदमी के स्तर पर रखना आवश्यक था।

इस प्रकार नवोन्मेषी कथाकार ने एक विकसित और समृद्ध कथापरम्परा की सरचना की। एक समकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ और आज के कथाकार के लिए

(भीष्म साहनी), 'तलाश' (कमलेश्वर), 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा), 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त), 'जंगला' (मोहन राकेश), 'फौलाद का आकाश' (मोहन राकेश), तथा 'यही सच है' (मन्नू भण्डारी।

इसी पगडण्डी पर यात्रा करती इन दिनों एक कृति सामने आयी है—वल्लभ सिद्धार्थ की 'शेष प्रसंग' (धर्मयुग, २५ जुलाई, १९७१)।

कहानी में एक विधवा पराश्रिता की घुटती हुई शब्दहीन संवेदना, पारिवारिकों के सम्बन्धों को प्रवंचनापूर्ण अभिव्यक्ति बहुत बारीकी से आँकी गयी है। कथाकार की निलिप्तता एक भाग्यहीन नारी की कुचली हुई आन्तरिकता को बड़ी दक्षता से उद्घाटित करती है। अन्तः सम्बन्धों का खोखला अभिनय स्वतः ही प्रकट होता चलता है और पराश्रिता नारी तथा उसकी बेटी के प्रति पारिवारिकों के छलनापूर्ण व्यवहार की परतें खुलती जाती है। कहानी में जो कुछ घटता है, वह भीतर ही भीतर कहीं गहरे घटता है—सतह के बहुत नीचे जहाँ पीड़ा का धधकता ज्वालामुखी दबा पड़ा हो। लेखक की कलात्मक बारीकी मूल संवेदना को सम्प्रेषित करती चलती है। कथाकार का जबर्दस्त संयम ट्रेजडी की निर्ममता को, आवेगहीन भाषा और स्थितियों से, पाठक के मन में खंजर की पैनी धार की तरह चुपचाप उतार देता है। गजब यह है कि कथा में यन्त्रणा को स्थूल रूप में प्रकट करनेवाला एक भी प्रत्यक्ष मुहावरा नहीं है।

जल के अजस्र प्रवाह की तरह पारिवारिक परम्परा में अनेक सिलसिले बनते बिगड़ते रहते हैं। रिश्तों के कड़वे मीठे सिलसिले, बदलते स्नेहसन्दर्भ, कदम कदम पर उभरते गतिरोध हर लम्बे चौड़े परिवार में दूध और पानी की तरह घुले मिले रहते हैं। सिलसिले गुम होते हैं, गतिरोध आने पर टूट जाते है : फिर कोई जोड़ने का सिलसिला शुरू हो जाता है—इस तरह सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव, अलगाव-मिलाप परिभाषित होते जाते हैं। मानव-सिलसिलों की ऐसी ही एक वजनदार कथा है सुदीप की 'सिलसिले' (सारिका : जुलाई, १९७१)। 'सिलसिले' के केन्द्र में कोई रेडीमेड समस्या या समाधान नहीं है। कलाकार का उद्देश्य केवल उन शाश्वत 'सिलसिलों को प्रस्तुत करना है, जो परिवारों की काल-चेतना में बनते बिगड़ते रहते हैं। 'सिलसिले' परिवार के भावना-प्रधान अनेक पृष्ठ उघाड़ती है, किन्तु किसी पारम्परिक तरीके से प्लॉट बनाने में नहीं उलझती, न ही किसी मानवीय समस्या का रेडीमेड समाधान खोजती है। समस्याओं के छोटे बड़े सिलसिले बनते बिगड़ते जाते है। यों एक भारतीय परिवार की पूरी संस्कृति विश्लेषित हो जाती है। कहानी में परिवेश की अन्तरंगता को बड़ी सजगता से पहचाना गया है। हर्ष विषाद के परिवर्तनशील पारिवारिक सिलसिले कथाकार की आगरूकता के कारण पाठक के लिए बड़े आत्मीय हो गये है।

कई बार ऐसा भी होता है कि बड़ी चालाकी से अपनी सुविधा के मुताबिक औरत को एक वस्तु के रूप में इस्तेमाल किया है—यह चालाकी यहाँ तक चली जाती है कि अपनी सुविधा के मुताबिक ऐसी वस्तु से शादी भी कर ली जाती है। वस्तु को शादी के बाद चालाकी की चट्टो का पता लगता है और उसकी सम्पूर्ण नारी चेतना अपमानित महसूस करने लगती है। इस पर पहरेदारी यह कि मुलम्मा-चढ़ी सामाजिक प्रतिष्ठा उसकी अस्मिता को अपनी कुण्ठाओं में घेरे रखना चाहती है। एक ऐसी प्रतिष्ठा की प्रदर्शनी, जहाँ चीजों और प्राणियों की कोई अहमियत नहीं है, बल्कि प्रतिष्ठा के आवरण में लज्जाजनक समझौते, दमन निर्णय, आधुनिकता के चोंचले चलाते रहते हैं। ऐसे माहौल में एक वस्तु के रूप में प्रयुक्त हुई नारी अपनी अवमानना

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में ग्रामीण संस्कृति में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। वोट की राजनीति का प्रभाव शहर से चल कर गाँवों तक पहुँचा। जिन गाँव वालों ने कभी 'गांधी महात्मा की जय' के नारे तोता रटन्त शैली में सीखे थे, उन्होंने अब 'समाजवाद', 'पूँजीवाद', 'समता', 'मौलिक अधिकार', 'प्रजातन्त्र', 'संविधान', जैसे शब्दों से भी घनिष्ठता जोड़ने की चेष्टा की। इधर आजादी के नियन्त्रणहीन वातावरण में रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार और शोषण की तीव्र हवा शहरों को लाँघती हुई ग्रामों में भी पहुँचने लगी। राजनीति का मंच स्थापित होने लगा तथा जातियों के विभेद और वर्गों के विभेद आपस में टकराने लगे। प्रजातन्त्र के वयस्क मताधिकार जातिवाद और क्षेत्रीयवाद को पोषित किया तथा मँहगाई, आर्थिक तनाव और सुविधाभोगी लोगों के अन्याय ने वर्गचेतना की लहर जगायी। परिणाम हुआ कि शहरों से अधिक भयंकरता और रक्तपात के बीच गाँव में वर्गसंघर्ष, पीढ़ीगत संघर्ष तथा राजनीतिक संघर्ष पलने लगे।

नये कथाकार इन वर्गविभेदों को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। प्रेमचन्द ने जिन गाँवों को देखा था, उनकी सभ्यता दूसरी थी। आज के गाँवों की सभ्यता दूसरी है। वहाँ एक उग्र और हिंसक विचारधारा पनप रही है—उन स्वार्थी, सुविधोपभोगी तथा धन्नासेठों के खिलाफ, जो मामूली आदमी और दलित जाति का आज भी मनचाहा उपयोग और शोषण कर रहे हैं। इस नये ग्रामीण परिवेश की पहचान एक भयंकर यथार्थवादी विचारधारा की पहचान है, और शब्दान्तर से यह प्रेमचन्द की उस परम्परा की पहचान है, जिसके अनुसार गाँवों को उनकी निजता और आत्मीयता में पहचानना एक अनिवार्य शर्त है।

'राग-दरबारी' जैसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास की रचना गाँवों की इस बदलती हुई राजनीतिक सभ्यता का एक दस्तावेज है।

इधर मार्कण्डेय ने इसी परिवर्तनशील ग्राम्य-संस्कृति पर एक जबर्दस्त कथा लिखी है, 'बीच के लोग'। (सारिका : जुलाई, १९७१) 'बीच के लोग' नयी ग्रामीण पृष्ठभूमि में वर्गविभेद के आधार पर तीन पीढ़ियों की मानसिकताओं का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत करती है। यह सामाजिक जागरूकता और वर्गचेतना का अविस्मरणीय स्मारक बनकर जीवित रहेगी। इस कालजयी कहानी का स्रष्टा स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामीण परिवेश की आत्मीयता को पहचानता है, वह वर्गविभेद की जड़ों से परिचित है तथा उन नपुंसक बीच के लोगों को जानता है, जो यथास्थिति जीने के कायल हैं, और जो बुनियादी परिवर्तनों से कतराते हैं। उनके पास चन्द अफीमची नारे हैं—सर्वोदय, अहिंसा, सत्य, मानवीय गरिमा, रक्तपातहीन वैचारिक क्रान्ति। इन नारों के सहारे वे शोषक पीढ़ी के लिए एक ढाल का काम करते रहे हैं और युवा पीढ़ी को संघर्ष से रोकते रहे हैं। 'बीच के लोग' अपनी वैचारिक सम्पदा तथा काल-पहचान के कारण ग्रामीण अंचलों पर लिखनेवाले कथाकारों को एक सही दिशा का संकेत देती है। कहानी के अन्त में यह घोषणा पूरी राजनीतिक वर्गचेतना को सही ग्रामीण अन्दाज में उद्घाटित कर देती है :

"अच्छा हो कि दुनिया को जस-की-तस बनाये रहनेवाले लोग बीच से हट जायँ, नहीं तो सबसे पहले उन्हीं को हटाना होगा, क्योंकि जिस बदलाव के लिए हम रण रोपे हुए हैं, वे उसी को रोके रहना चाहते हैं ....."

वर्गचेतना की एक और कहानी है इसराइल की 'फर्क'। ('वाम' : दिसम्बर, १९७१) 'फर्क' पर मार्कण्डेय का प्रभाव उस खतरनाक सीमा तक है, जो रचनाकार की अपनी अस्मिता

को ग्रस लेता है। अगर लेखक मार्कण्डेय के परोक्ष प्रभाव से बचकर अपनी मौलिकता को
कर पाता तो 'फर्क' भी एक विशिष्ट कहानी बन सकती थी। 'फर्क' में भी वर्गों की वैर
विषमताओं के बीच टकराहट की स्थितियाँ हैं। सर्वोदय, अहिंसावादी अकर्मण्यता,
मायाजाल, अकर्मण्य भ्रातृत्व तथा क्षणभंगुर जीवन जैसे दकियानूसी विचारों की
संघर्ष की न्यायोचित अनिवार्यता से है, और लेखक का रुझान निश्चय ही दलित वर्ग है

बताया

गया है।

सार्थकता

× × ×

इन दिनों कविता और कहानी में एक तरह का हिंसक क्रोध व्यक्त हो रहा है। यह क्रोध व्यवस्था की जड़ों के खिलाफ है, और इस क्रोध का स्वर मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष और नक्सलपन्थ के क्रोध से मिलता जुलता है। यह गुस्सा गलाजत भरी पूँजीवादी और भ्रष्ट व्यवस्था के उन्मूलन के लिए है। इन दिनों नक्सलपन्थ का जो आतंक समूचे भारत के छोटे बड़े राज्यों में महसूस किया गया, उसी आतंक की प्रतिध्वनियाँ हिन्दी कहानियों में उभरी हैं। ऐसी उग्र कहानियाँ युद्ध की शहीदाना घोषणाएँ करती हैं। हिन्दी में कहानियाँ बहुधा फैशन के बतौर भी बटोरी जाती हैं। ऐसी कहानियों में अनुभव की परिपक्वता नहीं होती, केवल दिमागी कल्पनाशीलता होती है। विद्रोह की आग और क्रान्ति के विस्फोट से धधकती ये कहानियाँ उन लोगों की कलम से सृजित हुई हैं, जो दफ्तरों, स्कूलों और कॉलेजों की जिन्दगी जीने वाले नौकरीपेशा और समझौतावादी लोग हैं। समझौतावाद उनका 'चुनाव' नहीं है, लाचारी है। वे दिमाग से क्रान्तिकारी हो हैं, उनकी रचनाएँ उनकी क्रान्तिधर्मिता का प्रमाण हैं, लेकिन व्यावहारिक जगत् में एक समझौतावादी जीवन जीने के लिए वे अभिशप्त हैं। उन्होंने रक्तपात देखा नहीं, वह हिंसक परिवेश भी नहीं देखा, जहाँ से ऐसी कहानियाँ निकल सकती हैं। परिणाम यह हुआ है कि उनका गुस्सा प्रामाणिक न होकर नाटकीय हो गया है। इसके अलावा अभी देश में वे स्थितियाँ नहीं बनी हैं, जिन स्थितियों को इन कहानियों में उभारा गया है। ये स्थितियाँ यथार्थवादी न रहकर कल्पना-प्रधान हो गयी हैं, इसलिए ये एक शुरुआत का संकेत तो देती हैं, पर रचनात्मक ईमानदारी के अभाव में अपनी हिंसा की प्रखर संवेदना का सही अहसास नहीं करा पातीं। लेखकीय विद्रोह की बात अनुभूति की सही जमीन न पाने के कारण केवल चमत्कृत करती है और लड़खड़ा जाती है। ये कहानियाँ बिना राजनीतिक हुए राजनीतिक शब्दावली का जमकर प्रयोग करती हैं, और कलात्मक स्पर्शों के अभाव में अनुभव के सतहीपन की प्रतीति कराती हैं।

सतीश जमाली की दो कहानियाँ सामने हैं: 'सत्ताधारी' (नई कहानियाँ : जुलाई, १९७१), और 'आवाज़' (समारम्भ-१.)। 'सत्ताधारी' में विद्रोही युवकों द्वारा चोरबाजारी, ब्लैक मार्केटिंग और अमानवीय शोषण करने वाले एक करोड़पति सेठ की हत्या की जाती है। सेठ का नाम उनके कुकर्मों द्वारा विद्रोही युवकों के दल की ब्लैक लिस्ट में आ गया है। कहानी का संकेत नक्सलपन्थ की आक्रामकता की ओर है, पर कहानी का अनुभव इस आक्रामकता की गारंटी नहीं देता। इसी तरह 'आवाज़' में व्यवस्था की साजिश भरी भयानकता और एक विद्रोही के आसपास के समझौतावादी परिवेश की रचना करने का प्रयत्न किया गया है। परिवेश के लोगों की समझौतापरस्ती में यथार्थ की गहरी झलकियाँ उभरती हैं, पर व्यवस्था की गुंडा-परस्ती, साज़िश भरा आतंक, यन्त्रणा देने के प्रकार इतने अवास्तविक हैं कि कथा का यह अंश पूर्णतः कल्पनाशीलता का अंग बन गया है। कविता हो या कहानी, सतीश जमाली को चमत्कृत करने की आदत है। इन कहानियों में बदलाव और बगावत का जो स्वर है, वह चमत्कार के स्तर पर है। स्वर की बुलन्दी में उन्होंने शायद सभी मार्क्सवादी लेखकों को मात दे दी है।

यही स्थिति हिमांशु जोशी की कहानी 'समुद्र और सूर्य के बीच' (सारिका : मार्च, १९७२) की है। कहानी में एक सत्ताधारी का आत्मान्वेषण है, और अपने जघन्य पाप-बोध से आक्रान्त आत्महत्या करने का निर्णय है। निर्णय विसर्जित हो जाता है, और एक ओर यथार्थ-

वादी थीम को फैंटेसी के आधार पर कल्पनाप्रधान बना दिया जाता है। सत्ताधारी .. अन्तर्द्वन्द्व देश की जमीन से छिटक कर कल्पना के स्वप्निल पंखों पर तैरने लगता है। सत्यों से आँख चुराना इसी आदत का नाम है, और सत्यों से पहचान जताने का दावा करना इसी को कहते हैं।

कुछ रूपक कथाएँ हमारे सामने और आती हैं, जो व्यवस्था-विद्रोह को अभिव्यक्त [illegible] हैं, पर जिनका रचनात्मक ढाँचा फैंटेसी के आधार पर तैयार किया गया है। ये रूपक हैं :—१. 'टोपी का रंग टोपी'—सनतकुमार (सारिका : जून, १९७२), २. 'सौं-' [illegible] माहेश्वर (पुस्तक, 'डॉ० माहेश्वर की कहानियाँ), ३. 'दुर्ग'—बदीउज्ज़मा (लहर : [illegible] १९७२), तथा 'लकीर'—सुबोधकुमार श्रीवास्तव (अस्वीकार : जुलाई, १९७१)।

इन रूपक कथाओं में 'टोपी का रंग टोपी' एक अनास्था की कहानी है, जो हर राज्य-व्यवस्था और दल को दूसरी व्यवस्था का पर्याय मानती है। साधारण जन का उद्धार का घोषणाएँ करनेवाली राजनीतिक व्यवस्थाएँ—चाहे वे प्रगतिशील हों या अहिंसावादी, [illegible] काम साधारण जन का मनमाना उपयोग करना है, और उनके माध्यम से राजनीतिक [illegible] की रोटियाँ सेंकना है। सनतकुमार ने देश के विभिन्न दलों की स्वार्थपूर्ण नारेबाजी को [illegible] की भरपूर चेष्टा की है, पर कहानी अपनी आन्तरिकता में केवल नफरत और अनास्था को [illegible] कर पाती है, और वह किसी स्पष्ट राजनीतिक विकल्प की ओर इंगित नहीं करती। [illegible] का आशय है :—जैसे मोरारजी वैसे बाबूराम यानी टोपी का रंग टोपी यानी सभी दलों [illegible] को फिर संघर्ष की उपयोगिता क्या हो? इस अनास्था का अन्त कहाँ है? हम कहानी [illegible] समाधान नहीं चाहते, समाधान तो कोई मैनीफेस्टो या नेता ही दे सकता है, लेकिन उसकी [illegible] करते हैं।

[illegible] से बनी हुई पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक प्रखर [illegible] है। [illegible] व्यवस्था का [illegible] से और [illegible] से किया गया है। [illegible] को [illegible] है और [illegible] को। [illegible] की सबसे [illegible] कहानी [illegible] है और [illegible] में [illegible] के [illegible] प्रतीकों से [illegible]

होती है। वे व्यवस्था से सीधे नहीं टकराती। अपने 'कलात्मक आवरण' में वे कल्पनाशी
वायवीयता का अंग ही रह जाती हैं। जब प्रतिबद्धता के स्तर पर टकराना ही हो तो पात्र और
स्थितियाँ नकली क्यों हों? उन्हें देश की यथार्थवादी जमीन से उठाया जाए और उन्हें उनके
सामाजिक और राजनीतिक खोखलेपन के साथ *या बग़ावत के आकार में प्रस्तुत किया जाए।*

दूसरी यह कि एक जैसी स्वप्न कथाएँ आवृत्ति प्रधान संवेदना का *अहसास* ही करा पाती है। उनमें कोई *ताजी* रूपाकृति नहीं होती। और तीसरी बात यह कि ऐसी कथाएँ कथा के मूल केन्द्र से च्युत हो जाती है। स्वप्न, फंटेसी, मिथक, प्रतीक, रूपक अपनी आत्मा में काव्य के अंग हैं। कविता की अमूर्तता इनसे सम्प्रेषित की जाती है, और भाववाचक स्थितियों की अभिव्यक्ति होती है। कथा 'ठोस' और 'सॉलिड' होती है, जिन्दगी के समान्तर चलती है, तथा वास्तविक जगत् को कथा जगत् में रूपान्तरित करती है। वह *काव्यात्मक क्यों हो? कथा यदि कविता बनने* लगे और कविता कथा, (इस दिनों यह प्रवृत्ति विकसित होती जा रही है—कथा और कविता दोनों मे), तो मूल स्वरूप गडमड हो जाएगा; न कविता कविता रहेगी, न कथा कथा।

× × ×

रचना कर्म की आवश्यक परिणति है प्रयोगधर्मिता। प्रयोगधर्मिता रचना-कर्म के बासीपन को मिटाती रहती है, और सृजन का ताजापन बिखेरती रहती है। सही और सशक्त *प्रयोग रचनाकार को नयी प्रतिमा तराशने का श्रेय दिलाते हैं, और पाठक को ग्रहण का आनन्द* निर्यात करते हैं। प्रयोगो के माध्यम से मानव संवेदना की अछूती परतें अनावृत होती चलती हैं, और मानव स्वभाव तथा परम्परा में नये मिथकों का रूपायन होता जाता है।

प्रयोगधर्मिता की एक ताजा और सशक्त मिसाल है पानू खोलिया की 'दण्डनायक' (धर्मयुग : जुलाई, १९७१)। इस कालजयी कृति मे कथावस्तु को लेकर एक नयी संवेदना सृजित *की गयी है।* 'दण्डनायक' एक शंकाग्रस्त, कुण्ठाग्रस्त पति के *नितान्त अमानवीय और* बर्बर प्रतिशोध की कहानी है। अपनी पत्नी और उसकी सहेली के बीच हुए पत्र व्यवहार मे पत्नी का अपने प्रति अविश्वास और असमर्पण पाकर पति बौखला जाता है और एक निर्मम प्रतिहिंसा का जाल बिछाता चलता है। इस प्रतिहिंसा की प्रकृति कायराना है, क्योंकि यह सामने सामने की लड़ाई नहीं लड़ती। यह प्रतिहिंसा पत्नी की षड्यन्त्रपूर्ण उपेक्षा पर फलती फूलती है, और उसे उसकी हीनता का बोध कराती है। इस आग मे झुलसे पति पत्नी (दोनो) अपनी यन्त्रणाओं के असहाय और मूक द्रष्टा बनकर विघटित होते जाते है। पति का विघटन प्रतिहिंसा की आग को शान्त करता है, और बेचारी पत्नी अपने विघटन को *क्रूर नियति का दैव मानकर* चुपचाप नष्ट होती जाती है। इस कहानी की भयानकता पाठक को आन्दोलित किये बिना नहीं रहती। एक नारी के भरे पूरे व्यक्तित्व को खोद खाद कर की गयी हत्या पुरुष-मन की प्रतिहिंसा का एकदम नया पृष्ठ खोलती है। दूसरी ओर पति स्वयं अपनी क्षीणता से परिचित होने के कारण पाप बोध से अपने समूचे व्यक्तित्व को ग्रस्त कर लेता है। 'दण्डनायक' *का यही अछूता मिथक है।*

मणि मधुकर की कहानी 'बारहसिंगा' (कहानी : मार्च, १९७२) *वृद्ध मन स्थिति की* नयी दिशाओं को खोजती है। वृद्ध मन की कातरता, युवकों के प्रति रोष सहानुभूति की विडम्बना तथा वृद्ध को सही परिप्रेक्ष्य में समझनेवाले व्यक्ति पर पहरा देती सन्देहशीलता के नये आयाम कहानी मे उद्घाटित हुए हैं। बारहसिंगा का नया प्रतीक-पात्र हिन्दी में पहली बार *मूर्तित हुआ*

कई बार जीवन में हम कुछ ऐसे निर्मम सत्यों का साक्षात्कार करते हैं, जो हमें हमारी सम्पूर्ण चेतना में झंझोड़ देते हैं। हमारे परिवेश में अनेक तरह के घुटे हुए, छटपटाते और संवेदना जगानेवाले निर्वस्त्र यथार्थ हैं, जो समकालीनता के गर्भ से जन्मते हैं। ये निर्वस्त्र यथार्थ अपनी सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक क्रूरता के कारण हम पर एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं। इन कठोर यथार्थों के दौर से गुजरने पर यों लगता है जैसे कुछ बहुमूल्य टूट गया हो, कुछ ऐसा बिखर गया हो, जो भावना के धरातल पर नितान्त अपना रहा हो ! निर्मम यथार्थ बँगला देश की धरती पर किये गये ऐतिहासिक क्रूर दमन से भी जन्म लेते हैं, और सामाजिक दृष्टि से किये जा रहे अनियन्त्रित, अराजक स्वेच्छाचार से भी। परिवेश में व्याप्त भयातिक्रमण व्यक्ति को चुपचाप ठंडे समझौतों का दंश भोगने को विवश करता है। नंगे यथार्थों की त्रासदी पिता-पुत्र, माँ-बेटे के बीच साक्षात् क्रूरता के रूप में खड़ी हो जाती है। इन सत्यों से बच पाना एक कठिन कार्य है। सत्य लावारिस होते हैं। वे लावारिस जीवन के आतंक को परिभाषित करते हैं। यहाँ रिश्ते टूट जाते हैं। जीवन के नियमित क्रम के विपरीत पड़नेवाले रक्तबंधन नष्ट हो जाते हैं। आर्थिक दबावों से सम्बन्धों का मोह समाप्त हो जाता है। फिर उन लावारिस सत्यों के बारे में क्या कहें, जो जीवन को कुत्तों-जैसा लावारिस बना देते हैं।

एक जवान अविवाहित लड़की अपनी माँ के सामने यौन संकेतों का खुला प्रदर्शन करती हुई अधिक सन्तानवती माँ से यह निर्मम प्रश्न पूछती है : "किसने कहा था इतने पैदा करने के लिए ?" 'चूहे' में गिरिराज किशोर ने इस निर्ममता की ओर संकेत किया था। 'एक और सैलाब' में मेहरुन्निसा परवेज ने एक दूसरी खतरनाक सृष्टि की ओर इंगित किया था। इसमें एक ऐसी औरत थी, जो अपने लकवा ग्रस्त पति को नींद की अधिक गोलियाँ देकर उसे हमेशा के लिए गहरी नींद में सुला देती है, फिर बच्चों का पोषण करने में स्वयं को असमर्थ पाकर अपने तन विक्रय की बात सोचती है। 'चीफ की दावत' में बेटे द्वारा माँ को एक फालतू चीज बना दिया जाता है, और माँ एक अपमानजनक स्थिति में रहकर भी बेटे का भला सोचती है। निर्ममता की आवाज 'मांस का दरिया' में बहुत प्रखरता से उभरी थी। अब तो स्थिति यह है कि किसी भी प्रकार की निर्मम अवस्था को कथावस्तु के रूप में चुना जा सकता है, और बिना किसी लज्जानुभव के उसे पूरी प्रखरता से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

इन दिनों पहचान में आयी निर्मम कथाओं में युगल की 'पहचान' (धर्मयुग : १० अक्टूबर, १९७१) नंगे और वहशी सत्यों की एक मार्मिक पहचान है। 'पहचान' का जन्म बँगला देश के शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या की कोख से हुआ है। 'पहचान' के पात्र अपने अतीत से और अपनी जमीन से कटे हुए हैं। उनके लिए भावात्मक रक्तसम्बन्ध नष्ट हो गये हैं। उनकी चेतना पर बलात्कारों की गर्म सलाखाओं के दाग हैं। ऐसे मोह भंग के माहौल में हरिपद का बूढ़ा बाप यदि शरणार्थी शिविर में मर जाए तो किसकी आत्मा को कष्ट हो ? यहाँ तो जिजीविषा की आखिरी लड़ाई लड़ी जा रही है। बाप की लाश को लोथालय की तरफ फेंककर मृतक संस्कार के लिए मिले कफन, लकड़ी और रुपये बचा लिये जाते हैं। रक्त पहचान और एक लाश्रा शिशु संस्कार अ-पहचान में बदल जाते हैं। 'पहचान' में मरे हुए अतीत की लाश एक विकल्पहीन वर्तमान की छाती पर पड़ी हुई है और कथा पात्रों की चेतना में एक दहकती हुई यन्त्रणा के स्रोत बने हुए हैं।

नपुंसक व्यवस्था के नंगे पदार्थों की कहानी है नरेन्द्र कोहली की 'यथार्थ'। (कहानीकार :

जब जिन्दगी की कल्पनाशीलता की संगति निर्मम यथार्थों के साथ नहीं बैठती तो भ्रम लड़खड़ा जाते हैं, सपने टूट-बिखर जाते हैं। केवल निर्दयी परिणतियाँ हाथ लगती हैं। कल्पनाशीलता की हवा में जिन्दगी की इमारत खड़ी होती है, उसकी भुरभुरी नीव यथार्थ का एक तूफानी झन्नाटा खाकर ढह पड़ती है। सपनों की समाधि बन जाती है। भ्रमों के छलावों से प्रतिश्रान्त जिन्दगी या तो एक खामोश त्रासदी बन जाती है या फिर एक मजाकिया विद्रूपता।

"फादर कासीमिदो, देबिदर जॉन और दो हाथ" (धर्मयुग : २६ दिसम्बर, १९७१) मोह भंग की एक ऐसी ही कहानी है, जिसमें एक वृद्ध, अपाहिज फौजी की पालित पोषित लालसा नियति के एक झटके में ही कालग्रस्त हो जाती है। अपने इकलौते लड़के को फौजी वर्दी में देखने का एक लम्बा मोह उस समय क्षरित हो जाता है, जब लड़के के दोनों हाथ प्रेस की ट्रेडिल के जबड़ों के बीच आकर चटनी बन जाते हैं। क्रूर नियति का झटका खाकर एक पूरा शीशा झन्नाकर चकनाचूर हो जाता है। *अवकाशप्राप्त वृद्ध फौजी का अहम् नियति के क्रूर प्रहार का आहार बन जाता है।*

सुबोध कुमार श्रीवास्तव की कहानी 'ठहरा हुआ निष्कर्ष' (धर्मयुग : १३ फरवरी, १९७२) विश्वास और भ्रम के बीच सीधी टकराहट की कहानी है। भ्रमों की टूटती शृंखला के सामने भी एक अभावग्रस्त वृद्धा का अपराजित विश्वास उसे जिन्दगी से प्रतिबद्ध रखता है। वह जिन्दगी की निर्ममता को झेलती हुई, भ्रमों और सपनों के खंडहरों में भटकती हुई, अपने वर्तमान को जीने योग्य बनाये रखती है। एक स्थायी विश्वास इस वृद्धा को, सपनों के खंडहरों में भी, सम्बद्धता की ओर अग्रसर करता है। एक वयस्का बेटी अभावग्रस्तता के कारण परिणय सूत्र में नहीं बँध पाती, और वर खोजने के भ्रम में गर्भावस्था को प्राप्त कर आत्महत्या कर लेती है। दूसरी बेटी भी इसी तरह प्रवंचित होती है, पर इस बार वृद्धा की चौकस सावधानी, उसकी *कर्मठता और आस्था उसे मरने नहीं देती। इसी विश्वास के सहारे वृद्धा की तीसरी बेटी परिणय*-सूत्र प्राप्त कर लेती है, और जो कुछ शेष बचता है, उसे वृद्धा, एक अटूट संलग्नता के साथ, जीने-योग्य बनाये रखती है। 'एक ठहरा हुआ निष्कर्ष' मे टूटते भ्रमों और अटूट विश्वास के बीच आदमी की जिजीविषा की अन्तिम दम तक लड़ी जानेवाली लड़ाई है।

और जब भ्रम अपने आप में एक नाटकीयता या गलतफहमी हो तो उसकी परिणति *भीष्म साहनी की 'नया मकान' (सारिका : जुलाई, १९७१) के अनुसार विद्रूपता हो जाती है।* 'नया मकान' में कॉमरेडी जीवन एक फैशनपरस्ती की तरह है और हर खतरे का परित्राण परिवार के अफसर-रिश्तेदारों के पास मौजूद है। यहाँ क्रान्ति, बगावत और परिवर्तन की नारेबाजी एक लत बन गयी है। विमला की यह उक्ति अपने कॉमरेडी पति के बारे मे कितनी सही है—"तुम तब भी वही कुछ थे, जो आज हो—तुम समझते हो, दो पाकेटों वाली कमीज पहन ली तो क्रान्तिकारी बन गये।" 'नया मकान' मे फैशनपरस्त विद्रोह का एक हिस्सा बड़ी गहराई से व्यंजित हुआ है। जुबान पर क्रान्ति और जीवन मे परिवार और पत्नी से समझौतापरस्ती—*इन स्थितियो की परिणति अन्ततोगत्वा विद्रूपता होती है।*

× × ×

इस लेख मे अनेक कहानियो की चर्चा करके मैने समान्तर बहती हुई जिन्दगी के वैचारिक युगप्रवाह को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। समान्तर चलते जीवन के विविध आयामों का प्रदर्शन इन कहानियो मे होता है। जिन्दगी मे जो सहीपनत दिखाएँ है, वे इन समान्तर रथो का रही

न्दी कहानी (१९६६–१९७०)

—मदन केवलिया

अनुभव के विस्तृत होते आयाम सातवें दशक के उत्तरार्द्ध की कहानियों में देखे जा सकते । जीवन की काल्पनिक रंगीनियों और तथाकथित आदर्शों से हटकर यथार्थ की अग्नि में तपकर कली हुई ये कहानियाँ समसामयिक भावबोध की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं। 'सच्चाइयों इकाई रूप में परिणत कर, उन्हें पात्रों के जरिये उजागर' करने की प्रवृत्ति इस काल में अधिक वर हुई है और सर्जनात्मकता के क्षेत्र में भी शक्ति और उपलब्धियाँ सामने आयी हैं।

'भोगने' और 'झेलने' के नारों से हटकर जीवन के बदलते मान-मूल्यों के आधार पर सही मीन का संस्पर्श करती ये कहानियाँ जीवनदृष्टि और जीवनसंघर्ष की सही तस्वीर प्रमाणित ई हैं। आदर्श का केंचुल आज का कहानीकार पूरी तरह से छोड़ चुका है। उत्साह, आनन्द, सादि उसके लिए पुराने मूल्य हैं, क्योंकि 'शायद जीवन में इनकी कोई सार्थकता नहीं है··· नुष्य के वर्तमान जीवन में ये बातें अपना अर्थ खो चुकी है। वर्तमान संकट के रूप में अनि-श्चित त्रास, अस्तित्व की भयावहता और जीते रहने की प्रक्रिया के अन्तर्गत घिसे कटे जाने के नुभव, सच्चे रचनाकार को आदर्श आदि के झूठ की ओर जाने से बचाते हैं।' (गंगा प्रसाद विमल)

आज कहानी बहुत ही गम्भीर विधा के रूप में परिगणित होती है। वह जीवन के वैविध्य की झाँकी प्रस्तुत करती हुई ऐसी समस्याओं की ओर भी संकेत करने लगी है, जो संस्कारी मन के लिए पाचक नहीं रहीं। इससे कुछ विकृतियाँ भी आयीं, जिन्होंने कहानी के धरातल को निम्न-स्तर का बनाया, किन्तु अधिकांश कहानियों ने समाज का सही रूप प्रस्तुत किया है।

मूल्य-संघर्ष ही इन कहानियों का प्राण माना जा सकता है।

आज का व्यक्ति अपने जीवन की ट्रेजडी से परिचित तो है, पर उसके पास कोई समा-धान नहीं है। दमघोंटू वातावरण के बीच उसकी जिजीविषा बुरी तरह से कराह रही है, वह अलग थलग पड़ गया है। घर उसके लिए अभिशाप बन चुका है और समाज उसे कुछ स्नॉब लोगों का जमघट दिखाई पड़ता है। गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में, "देवता भ्रष्ट हो चुके हैं। ···ईश्वर की मृत्यु हो गयी है। आस्थाओं की धुरियाँ पहले से ही टूट चुकी हैं।" न तो वह 'भविष्य के यूटोपियन सपनों में भाग सकते हैं न अतीत के पवित्र-वंदनीय संसार में।" (राजेन्द्र यादव)

इस काल के कथानायक घटनाओं के जाल में फँसे नजर नहीं आते, वे खामोश जिन्दगी के बीच अपने आप से जूझ रहे हैं। वे गिरते भी हैं तो इसी चोट के साथ, धमाके के साथ नहीं। अमृत राय के अनुसार आज के साहित्य की एक बड़ी समस्या है 'संवादहीनता। आदमी क्या और किससे बात करे। दो लोगों के बीच कहीं कोई सेतु नहीं है. इस काल सभी तो मुखौटा लगाये घूमते हैं, आदमी को अपना चेहरा देखने को कहाँ मिलता है?' (नई कहानियाँ, जून ७१)

बचपन से आदमी को इतना दब्बू और बुद्धू बना दिया है कि उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व रह ही नहीं गया है। ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी गयी हैं, जो आदर्श के रूप में असाधक या नमनायक

हिन्दी कहानी (१९६६–१९७०)

—मदन केवलिया

अनुभव के विस्तृत होते आयाम सातवें दशक के उत्तरार्द्ध की कहानियों में देखे जा सकते हैं। जीवन की काल्पनिक रंगीनियों और तथाकथित आदर्शों से हटकर यथार्थ की अग्नि में तपकर निकली हुई ये कहानियाँ समसामयिक भावबोध की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं। 'सच्चाइयों को इकाई रूप में परिणत कर, उन्हें पात्रों के जरिये उजागर' करने की प्रवृत्ति इस काल में अधिक मुखर हुई है और सर्जनात्मकता के क्षेत्र में भी शक्ति और उपलब्धियाँ सामने आयी हैं।

'भोगने' और 'झेलने' के नारों से हटकर जीवन के बदलते मान-मूल्यों के आधार पर सही जमीन का संस्पर्श करती ये कहानियाँ जीवनदृष्टि और जीवनसंघर्ष की सही तस्वीर प्रमाणित हुई हैं। आदर्श का केंचुल आज का कहानीकार पूरी तरह से छोड़ चुका है। उत्साह, आनन्द, रसादि उसके लिए पुराने मूल्य हैं, क्योंकि 'शायद जीवन में इनकी कोई सार्थकता नहीं है''' मनुष्य के वर्तमान जीवन में ये बातें अपना अर्थ खो चुकी हैं। वर्तमान संकट के रूप में अनियन्त्रित त्रास, अस्तित्व की भयावहता और जीते रहने की प्रक्रिया के अन्तर्गत घिसे कटे जाने के अनुभव, सच्चे रचनाकार को आदर्श आदि के झूठ की ओर जाने से बचाते हैं।' (गंगा प्रसाद विमल)

आज कहानी बहुत ही गम्भीर विधा के रूप में परिगणित होती है। वह जीवन के वैविध्य की झाँकी प्रस्तुत करती हुई ऐसी समस्याओं की ओर भी संकेत करने लगी है, जो संस्कारी मन के लिए पाचक नहीं रहीं। इससे कुछ विकृतियाँ भी आयीं, जिन्होंने कहानी के धरातल को निम्न-स्तर का बनाया, किन्तु अधिकांश कहानियों ने समाज का सही रूप प्रस्तुत किया है।

मूल्य-संघर्ष ही इन कहानियों का प्राण माना जा सकता है।

आज का व्यक्ति अपने जीवन की ट्रेजडी से परिचित तो है, पर उसके पास कोई समाधान नहीं है। दमघोंटू वातावरण के बीच उसकी जिजीविषा बुरी तरह से कराह रही है, वह अलग थलग पड़ गया है। घर उसके लिए अभिशाप बन चुका है और समाज उसे कुछ स्नॉब लोगों का जमघट दिखाई पड़ता है। गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में, "देवता भ्रष्ट हो चुके हैं। ···ईश्वर की मृत्यु हो गयी है। आस्थाओं की धुरियाँ पहले से ही टूट चुकी हैं।" न तो वह 'भविष्य के यूटोपियन सपनों में भाग सकते हैं न अतीत के पवित्र-वैदिक संसार में।" (राजेन्द्र यादव)

इस काल के कथानायक घटनाओं के जाल में फंसे नज़र नहीं आते, वे खामोश ज़िन्दगी के बीच अपने आप से जूझ रहे हैं। वे मिलते भी हैं तो इसी बोध के साथ, धमाके के साथ नहीं। अमृत राय के अनुसार आज के साहित्य की एक बड़ी समस्या है 'संवादहीनता। आदमी क्या और किससे बात करे। दो लोगों के बीच कहीं कोई सेतु नहीं है, हम सब सभी तो मुखौटा लगाये घूमते हैं, आदमी को अपना चेहरा देखने को कहाँ मिलता है?' (नई कहानियाँ, जून ७१)

वक्त ने आदमी को इतना दब्बू और कुंठित बना दिया है कि उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व रह ही नहीं गया है। ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी गयी हैं, जो नायक के रूप में अनायक या लघुनायक

कहानियों में अपनी परिपक्वता के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं। इस प्रकार एक [illegible] पर जिन्दगी के विविध चित्रों में रंग भरा जा रहा है। कथा प्रवाह में संयोजित हुई [illegible] समान्तर चलते जीवन की विचार-पद्धतियों को रूपायित कर रही हैं। इन्हीं विचार-पद्धतियों [illegible] आधार पर जीवन के बदलाव को लक्षित किया जा सकता है तथा इस बदलाव को [illegible] गहराई, स्रष्टा की दृष्टि सम्पन्नता तथा भाषा की सचाई के साथ कथाकार रचना में [illegible] दे रहा है। जीवन के प्रति आदमी के बदलते दृष्टिकोण, अन्तःसम्बन्धों की सूक्ष्मताएं, [illegible] और विद्रोह के हिंसक स्वर, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के नंगे यथार्थ, नियति के क्रूर [illegible] सन्नाटे के साथ टूटते भ्रम तथा परिस्थिति की कोख से आकार ग्रहण करते नये कथा [illegible] कथाओं से गहरी संवेदना लेकर उतरते आ रहे हैं और एक ऐतिहासिक क्रम में जुड़ी [illegible] मानवीय भावनाओं की पूर्व गाथा पुन:परिभाषित हो रही है। व्यतीत हुई कथा की [illegible] दरियादिली इनमें नहीं है, ये कहानियाँ अपने परिवेश की सघनता तथा निर्ममता को [illegible] इनमें आज के व्यक्ति का दोहरापन—उसकी आन्तरिक और बाह्य सचाइयाँ भ्रम भंग [illegible] में अभिव्यंजना पा रही हैं। इस हलचल भरी जिन्दगी में आज के व्यक्ति की रिक्तता, [illegible] प्रतिबद्धहीनता, निर्णयहीनता, भयाक्रान्तता और नग्नता आज की इस कहानी में प्रतिफलित हो रही है। इन समस्याओं से सीधा साक्षात्कार आज का सृजनधर्मी कथाकार कर रहा है। [illegible] की कल्पनाएँ भूनकर वह आदमी के सामूहिक जीवन को पहचानता जा रहा है। यही [illegible] सामाजिक दृष्टि की विशेषता है। इस व्यावहारिक माहौल में अपनत्व की स्थितियाँ [illegible] जा रही हैं, असहायता, व्यक्ति की निजता, रक्त सम्बन्धों की पहचान निर्वासित [illegible] नष्ट हो रही है। कहानीकार आस्थाहीनता के उन कारणों की तलाश कर रहा है, जो [illegible] को बेरहम बना रहे हैं। सूखे कहकहों तथा खोखले गुब्बारों के बीच घुटती मानवीय [illegible] को [illegible] लिखी जा रही कथा ने अपना कथ्य बनाया है, आदमी की स्वच्छन्दहीनता [illegible] हो गई है। [illegible], [illegible], तथा कृत्रिम आवरणों से यह [illegible] [illegible] सिद्ध कर रही है। आज का कथाशिल्पी परिवेश के [illegible] प्रश्नों से जूझ रहा है [illegible] [illegible] और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में समझ रहा है।

[illegible], हिन्दी कथा का नया शिल्प, अपनी [illegible] रचनात्मक क्षमता [illegible] [illegible] हुई जिन्दगी की विभिन्नताओं को सार्थक वाणी दे रहा है।

मोहब्बत का जवाब देना नहीं जानती। इस मामले में वह इतनी अनाड़ी होती है कि पति के सब सपने घासफूस की तरह बह जाते है।' (पृ० ११८) 'एक प्लेट सैलाब' (मन्नू भण्डारी) की 'ऊँचाई' में नारी शरीर की पवित्रता का संघर्ष है; वह अपने पति को इस सम्बन्ध में स्पष्ट बता देती है और समझती है कि यदि वैवाहिक सम्बन्धो का आधार इतना छिछला है, इतना कमजोर है कि एक हल्के से झटके को भी सँभाल नहीं सकता, तो सचमुच उसे टूट जाना चाहिये।' (पृ० १४७)

व्यक्ति और व्यक्ति को जोड़नेवाली सभी इकाइयाँ टूट चुकी हैं, तो परम्परागत पारिवारिक जीवन का चलना भी दूभर हो गया है। *अर्थ ने यहाँ भी खाइयाँ पैदा कर दी हैं* और आत्मीयता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' से लेकर 'सवा सेर गेहूँ' कहानी तक में पारिवारिक नीवों का हिलना शुरू हो गया था। कमलेश्वर के शब्दों में— "जीवन-व्यवस्था में पिता और पुत्र, पति और पत्नी, सम्बन्धी और नातेदार अब अपनी पुरानी मान्यताओं के सहारे नहीं चल पा रहे हैं। पुत्र अब परलोक के लिए नहीं, इहलोक के लिए जरूरी हो गया है......सम्बन्धों में अनवरत तनाव और जीवन की व्यर्थता का बोध ही आज की पुरानी पीढ़ी का बोध है।" ('नयी कहानी की भूमिका', पृ० १२८)

परिवार की आर्थिक स्थिति आज मुश्किल से सँभल पा रही है। पति-पत्नी अनेक सपनों को पालते है, पर वे कुछ देर तक साथ देकर एक झटके में टूट जाते हैं। कमलेश्वर के 'जिन्दा मुर्दे' (राजपाल एंड संस, ७०) मे एक कहानी है 'भरे-पूरे-अधूरे'। उसकी राधा अपने घर को ऊँचा उठाने का पूरा प्रयास करती है, पर वह टूट जाता है। आदमी की इच्छा होती है कि घर के सभी प्राणी एक जगह हों, हँसे-बोलें और घर में चहल पहल हो। दूधनाथ सिंह के 'सपाट चेहरेवाला आदमी', (अक्षर प्रकाशन, ६७) मे एक कहानी है 'आइस बर्ग'। उसका नायक विनय चाहता है कि वह आदमियो के बीच हो, उनसे सम्बन्धित हो, लेकिन इस 'आन्तरिक बन्धन' को कोई नही समझ पाता। चाचाजाद भाई लड़कर जाता है, अनुज सुबोध ठहरने के एक सौ पचीस रुपये देकर जाता है और बहन उसे स्वार्थी समझती है, सभी उस पर अहसान जताते हैं।

इस काल की अधिकांश कहानियाँ टूटते परिवारों की ही कहानियाँ हैं। एकाध कहानी आदर्श परिवारो की अवश्य मिल जाती है, जैसे मन्नू भंडारी की 'घर बनानेवाले' ('एक प्लेट सैलाब') किन्तु ऐसी कहानियाँ कम है।

"श्रम और सेक्स के दुहरे-जटिल शोषण के गलियारों के जाल से नारी के मौलिक और स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खोज निकालने के लिए जिस साहस और निर्भीकता की आवश्यकता होती है" वह इन कहानीकारों में पायी जाती है। मन्नू भंडारी का 'यही सच है और अन्य कहानियाँ' (अक्षर प्रकाशन, ६६) इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वैसे शिवानी, श्रीमती विजय चौहान, कृष्णा सोबती, देवकी अग्रवाल आदि की कहानियाँ भी नारी का नया रूप प्रस्तुत करती है।

जहाँ परिवार पूरी तरह से टूटे नही है, वहाँ प्रत्येक कमरे में नया व्यक्तित्व स्थापित हो गया है। पुरातन शिलालेखों के समक्ष उसकी लिपि से अज्ञात दर्शक की जो स्थिति होती है, वैसी ही स्थिति घर मे माँ-बाप की हो गयी है। ज्ञानरंजन की 'दोस्त होते हुए' (फेंस के इधर और उधर', अक्षर, ६८) कहानी मे खंडित होते घर-परिवार का सशक्त चित्रण है—'अभी लोग पूरी तरह टूटे और बिखरे नहीं है। अभी संभावित अपने अंजाम की तरफ केवल झुक गई है। (पृ०७०)

बातों की चिन्ता किये बिना ही सेक्स के अनावश्यक ब्योरों से कहानियाँ भरी पड़ी हैं। णिमा' का 'सातवाँ दशक कहानी विशेषांक' इस कारण काफी बदनाम है। गिरिराज किशोर का ह 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' (अक्षर प्रकाशन,६९) मे 'रिश्ता' कहानी माँ-पुत्र के सम्बन्धों बड़े भोंडे ढंग से पेश करती है। ऐसी ही कहानी 'अपना मरना' (गंगाप्रसाद विमल) 'चाची' भीमसेन त्यागी) व राजकमल की कहानियाँ हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने एक बार कहा था—"सेक्स । अर्थ अनिवार्य नहीं कि सहवास ही हो। सहवास के बावजूद कहानी सेक्सविहीन हो कती है, जैसे एक स्त्री की उपस्थिति से समूचे वातावरण में सेक्स की उपस्थिति में एक उष्णता जाती है।" दूधनाथ के कहानीसंग्रह 'सपाट चेहरे वाला आदमी' के अन्तर्गत 'रीछ', 'सब क हो जायगा', और 'रक्तपात', तथा 'मेरा दुश्मन' (कृष्णबलदेव वैद) 'दूसरे का बिस्तर' काशीनाथ सिंह) इत्यादि सेक्स को सही ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

कुल मिलाकर कथ्य की दृष्टि से ये कहानियाँ भरी पूरी है। स्थानाभाव के कारण सभी ंग्रहों अथवा विशिष्ट कहानियों की चर्चा यहाँ नही हो सकी। 'अपनी धरती अपना त्याग' यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र : सूर्य प्रकाशन, बीकानेर), 'पेपरवेट' (गिरिराज किशोर, अक्षर प्रकाशन), बन्द गली का आखिरी मकान' और 'आश्रम' (धर्मवीर भारती), 'महापुरुषों की वापसी' (बल्लभ सिद्धार्थ) फासिल' (कृष्णभावुक)—इन सब का विशिष्ट महत्त्व है।

दो चार बातें इन कहानियो की भाषा के सम्बन्ध में। भाषा का बदलना नये युगबोध का सूचक है, इसलिए प्रत्येक बदलाव पर सूक्ष्मता से विचार होना चाहिए, यद्यपि ऐसा बहुत कम हो पाता है। साठोत्तरी कहानी ने सजावटी, बनावटी और अभिजात मुद्रा की भाषा का सर्वथा परित्याग कर दिया है और शिल्पहीन शिल्प का लिबास ओढ़ लिया है। आंग्ल प्रभाव जहाँ बढ़ा है, वहाँ आंचलिक प्रभाव ने भी करामात दिखाई है। मध्य और निम्नवर्गीय जीवन के लिए जिस जीवन्त भाषा की आवश्यकता हिन्दी कहानी महसूसती रहती है, वही आज उसे उपलब्ध है। भाषा का 'साहित्यिक संस्कार' और 'काव्यात्मक अलंकरण' अच्छे नहीं लगते। आलोच्य काल मे निराडम्बर सत्य और व्यंग्य के लिए जिस भाषा की आवश्यकता हुई, वह उसे उपलब्ध है।

बोलचाल की भाषा का रंग 'लोग बिस्तरों पर' (काशीनाथ सिंह . अभिव्यक्ति प्रकाशन), 'यारों का यार—तिन पहाड़' (कृष्णा सोबती : राजकमल) व अन्य कहानियों मे दिखाई पडता है। आंचलिक बोली रेणु, शिवप्रसाद सिंह, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, कमलेश्वर शरद जोशी, काशीनाथ सिंह इत्यादि की कहानियो मे मुखरित हुई है। कतिपय कवि-कहानीकारों पर नयी काव्यात्मक भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। व्याकरण की दृष्टि मे भी इन कहानीकारों ने नये प्रयोग किये है। मणि मधुकर, पानू खोलिया, कृष्णा अग्निहोत्री, दिनेश पालीवाल आदि की कहानियाँ इस सन्दर्भ मे प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'कब्रिस्तान मे आदमी' (मणि मधुकर) की ये पंक्तियाँ देखिए— "माथे मे आग की एक लम्बी लपट उठी और साँसों को जलाती हुई फेफड़ों मे उतर गयी। मै तड़प उठा, उबलते हुए आँसू अपने ताप से गालों को सेंकने लगे।" भीमसेन त्यागी ने कहा था— 'शिल्प और अभिव्यक्ति की यह विवशता ही आज तमाम कथारूढ़ियों को तोड़ रही है। कथानक, पात्र, भाषा का अलंकरण और शिल्प के वे तमाम चमत्कार, जो रचना को कहानी बनाते थे, दम तोड़ चुके है।' (अणिमा, दिसम्बर '६६, पृ० २९९)

ध्वन्यात्मक शब्दों को आंचलिक कहानीकारों ने खूब उभारा है। 'आदिम रात्रि की महक' (रेणु) की अधिकांश कहानियाँ इसी विशेषता से युक्त है। देशीय शब्दों का प्रयोग और चालू शब्द भी (जिनमे गालियाँ भी शामिल है) सामने आये है—

समीक्षाएँ

उपन्यास

हुआ आसमान'

नवलेखन में महानगर की एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जगदम्बा
दीक्षित का उपन्यास 'कटा हुआ आसमान' महानगर के सन्दर्भ में एक व्यक्ति के अकेले होते
और फिर भरभराकर टूट पड़ने की बड़ी निर्मम कहानी है। रमेश नौटियाल के माध्यम से
ने अपने परिचित यथार्थ को बड़ी तटस्थ आत्मीयता और प्रखर संवेदना से अंकित किया है।
न्द मिश्र के उपन्यास 'यह/ अपना चेहरा' की भाँति अलग से भूमिका लिखकर लेखक अपने
श की बात नहीं कहता-करता, यह अलग बात है कि वैसा करने पर भी परिवेश उसमें किस
तक और किस रूप में उभर सका है। 'कटा हुआ आसमान' का परिवेश ऊपर से देखने पर
ी कदर एकांगी भी लग सकता है क्योंकि रमेश नौटियाल और किटी खोसला के प्रेमप्रसंग
र्द गिर्द ही उसका सारा ताना बाना बुना गया दिखाई देता है। परन्तु ऊपरी तौर से दिखाई
वाली इस एकांगिता का अतिक्रमण लेखक ने बड़ी सजगता से किया है और अपने परिवेशगत
-सन्दर्भों को उसने कुछ इस तरह जुटाया है कि 'कटा हुआ आसमान' न तो मात्र रमेश
टियाल की ही कहानी बन कर रह जाता है और न ही रमेश नौटियाल और किटी खोसला के
प्रसंगों को चटखारे ले लेकर पढ़ी जानेवाली दास्तान बन जाने को ही वह अभिशप्त है।

बम्बई जैसे महानगर में दूर दराज पहाड़ी अंचल से आया एक व्यक्ति सारी भीड़ और
धूम के बावजूद किस कदर दुःखी और तनहा हो सकता है उसका एक रूप रमेश नौटियाल है।
र फिर जब उसको विक्षिप्त कर देनेवाली मायूसी और तनहाई के दौरान उसी के कालेज की
क छात्रा किटी खोसला उसके परिचय के घेरे में आती है तो वह अपनी सीमाओं से बखूबी
रिचित होने के सबब से उसे एक बार झिटककर उससे दूर हो जाने की कोशिश करता है।
किन उसकी कोशिश को नाकामयाब कर देने में ही महानगर के अपने दबाव की सार्थकता और
फलता निहित है। किटी की उत्तेजक पहल भी उसकी असफलता का कारण मानी जा सकती
। और तब फिर वह सम्पूर्ण भावना और ईमानदारी से किटी से प्रेम करता है और चूँकि
मानदारी अक्सर आदमी को भावुक बना देती है, वह किसी हद तक भावुक होकर उसे अपनाने,
उससे बाकायदा विवाह करके उसे अपनी पत्नी बना लेने की बात सोचता है। लेकिन महानगर
किसी भावुकता और संवेदना के तहत नहीं एक खास मशीनी सी और व्यावसायिकता के तहत चलता
है। दो चार बार कार में, रेस्त्रां या फिर समुद्र के किनारे हुई मुलाकातें सारी प्रतिज्ञाओं और
सपनों को खंडित करती हुई शून्य में खो जाती हैं क्योंकि प्रिंसिपल को सब कुछ मालूम हो जाता
है। वह किटी को बुलवाकर उससे सब कुछ उगलवा लेता है। किटी के पिता ने भी उसे एक
खरा और गरम पत्र लिखा है और कालेज की प्रतिष्ठा की खातिर सहानुभूति के आडम्बरपूर्ण
नाटक के बाद वह रमेश नौटियाल को त्यागपत्र देने के लिए विवश करता है। यह भी क्या कम

१ कटा हुआ आसमान, ले० जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, प्र० अक्षर प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, प्र० सं०
१९७१, क्राउन डिमाई, पृ० सं० ११२, मूल्य ११.००

है कि उसके चरित्र पर स्पष्ट लांछन लगाकर उसे निकाला नहीं जा रहा है! और फिर करोड़पति बाप के बेटे के लिए काले बच्चे पैदा न करना चाहकर भी अमृतसर भेज दी। और चलते चलते वह रमेश को आश्वासन देती जाती है कि उसके अपने लम्बे और [illegible] सम्पर्कों के कारण वह उसे बहुत दिनों तक बिना नौकरी के नहीं रहने देगी।

लेकिन यह जो कुछ भी इस उपन्यास के बारे में कहा गया है उसका बहुत कुछ है यह उसका सब कुछ नहीं है क्योंकि तब तो, जैसा शुरू में ही संकेत किया गया है कि [illegible] नौटियाल और किसी किटी लोपला की प्रेमकहानी मात्र बन कर रह जाने की अधिक [illegible] जो यह सौभाग्य से नहीं है।

जब वर्जीनिया वुल्फ ने चेतनाप्रवाही शैली की वकालत की तो सिद्धान्ततः उसने बेनेट और गाल्सवर्दी का विरोध भी किया। इन लोगों के खिलाफ उनकी मूल शिकायत [illegible] कि इन लोगों ने परिवेशगत बाह्य विस्तार को जरूरत से ज्यादा अहमियत देकर व्यक्ति को उसमें खो जाने दिया है। अपनी विशिष्ट शैली में उसने लिखा, 'उन्होंने हमें एक मकान दिया है इस आशा के साथ कि हम पता लगा सकें कि उसमें कौन लोग रहते हैं'... लेकिन इस तरह बाह्य विस्तार के विरोध में उसने जो रास्ता अपनाया, जीवन की संश्लिष्ट अनुभूति को संश्लिष्ट शैली में प्रस्तुत करने का आग्रह, उसकी भी अपनी कुछ निजी सीमाएँ थीं। [illegible] ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि उसकी सबसे महत्वपूर्ण सीमा तो यही है कि [illegible] है लेकिन अपने मनुष्यों और परिवेश से कटा हुआ और उससे भी अधिक यह है कि [illegible] आक्रान्त है। और इस तरह हम फिर [illegible] समाज के [illegible] की सीमारेखा पर खड़ा पाते हैं। 'कटा हुआ [illegible]' के इस सारी बातों की चर्चा करने का एक जरूरी कारण है। [illegible] परिचय में लिखा गया है कि यह [illegible] आन्दोलन में [illegible] चुके हैं और यह [illegible] अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद का विरोधी न मानकर उसका पूरक मानते हैं। इस [illegible] का भी [illegible] होना ही है कि वह व्यक्ति और समाज के इस द्वन्द्व को [illegible] और [illegible] की कोशिश में है।

देहरादून में रहती बूढ़ी माँ, जवान शादी लायक बहन रन्नो और छोटे भाई से भी जुड़ता चलता है, कुछ इस कदर गहराई के साथ कि अपने में पूर्ण होकर भी वह इस सबसे अलग और दूर नहीं मालूम देता। बम्बई का उसका अपना परिवेश भी महज एक हिस्सा है जिससे वह सीधे तौर पर जुड़ा है। उसी का दूसरा हिस्सा है किटी की दुनिया का परिवेश—जो खुद अपनी मोटर लेकर कालेज आती है, हजारों रुपये अपनी अभिरुचियों और शौकों पर खर्च करने की स्थिति में है और जिस वर्ग में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए व्यक्ति और उसकी योग्यता-क्षमताओं से अधिक मूल्य दौलत का है और किटी की दुनिया का वह परिवेश ही शायद उस महानगर का सबसे सबल और सक्षम अंश है। जब किटी खोसला के सम्पर्क में आने पर रमेश उससे पूछता है कि उसमें उसने आखिर ऐसा क्या देखा है, वह अपने स्तर और उम्र के अनुरूप किसी लड़के से सम्बन्ध क्यों नहीं जोड़ती तो किटी उत्तर देती है,"…"दे आर धाइल्डिश"'बचपना भरा है उनमें। बेकार का सेंटीमेंटलिज्म। मुझे पसन्द नहीं है। आई लाइक मैच्योरिटी "मैच्योरिटी के बिना" बन इज नाट ए मैन"'दे आर सिमरली बाइज्""" (पृ० सं० ५२) लेकिन नौटियाल और उसके बीच की खाई इतनी चौड़ी है कि उसे ताज्जुब होता है यह जानकर कि दुनिया में कोई ऐसा आदमी भी हो सकता है जिसकी अपनी कहने को कुछ अभिरुचियाँ न हों, शौक न हों ! किटी में किसी प्रकार का कोई नैतिक दबाव नहीं है, जबकि नौटियाल अपने निम्न मध्यवर्गीय संस्कारों से कभी मुक्त नहीं हो पाता है। वह किटी से कहता है : "मैं कितना ही कुछ हो जाऊँ"'लेकिन अन्दर से बदल नहीं सकता"'मेरे खून में वही सब है। मॉरल सेंटीमेंट्स"'भावनाएँ"'समझ रही हो।…मिसाल के तौर पर मेरा और तुम्हारा कान्टेक्ट। मैं जानता हूँ यह क्या है। लेकिन फिर भी मैं चाहता हूँ…मेरी कान्शियन्स में गिल्ट घुसा हुआ है..मैं इसे निकाल कर नहीं फेंक सकता और साथ ही तुम्हें छोड़ नहीं सकता"…(पृ० सं० ६१) इस तरह नौटियाल काफी ईमानदारी से अपने को समझने की कोशिश करता है और अपने परिवेश की विसंगतियों को मुँह चिढ़ाता भी नजर आता है, कभी कभी अपनी जिम्मेदारी से उकताकर वह माँ और रन्नो के प्रति अकारण आक्रोश में फट भी पड़ता है। प्रिंसिपल और अध्यक्ष को ठोकर मारकर वह मीडियाक्रिटी के मुँह पर थूक देना भी चाहता है। लेकिन कुल मिलाकर अपने परिवेशगत भौतिक और नैतिक दबावों से वह मुक्त नहीं है और इसीलिए किटी का मामला खुल जाने पर वह प्रिंसिपल की खुशामद भी करता है और असफल होने पर गहरी निराशा में डूब जाता है। निराशा और घुटन का यह माहौल पूरे उपन्यास में बड़ा अभेद्य और सघन बनकर उतरा है। बीच में कहीं कहीं संघर्ष का जोश उसमें करवटें लेता जरूर दिखाई देता है "मगर एक आखिरी कोशिश…आखिरी कोशिश… जिंदा रहने की। जो कमजोर है टूट रहा है टूटेगा नहीं। जो मर जायेगा. .वह मरेगा नहीं।…मधामस ! खिड़की खोल दो। .अन्दर आ जाने दो सुबह को जो बाहर खड़ी है। ..जिन्दगी हार नहीं है एक नई शुरुआत है (पृ० स० ११६) लेकिन उपन्यास का अन्त उसे खोई हुई आवाजों के शहर में, खोखले खोये हुए उजड़े चेहरों और गुजराती राजधानी की भीड़ में अकेला छोड़ देता है, एकदम तनहा, दिलहारा और विक्षुब्ध और तब जीवन के यथार्थ और उससे सम्बन्धित धारणाओं का अन्तर भी खूब सफाई से उभर आता है।

चेतना-प्रवाही शैली हिन्दी के लिए भले ही नयी चीज हो, अंग्रेजी में यह कम से कम पचास वर्ष पुरानी चीज है। लेकिन 'कटा हुआ आसमान' की सार्थकता का सबसे बड़ा सबूत यही है कि लेखक ने अपने को उसकी अतियों से बचाया है, उसकी सीमाओं का अतिक्रमण किया

स्तर पर [illegible] उबाती नहीं। सस्ती किस्म की रूमानियत अथवा कोई भोंडापन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। केवल अन्त में करुणा का पत्र पाकर परेश का बेहोश हो *जाना और अस्पताल में भरती होना* अतिनाटकीय घटना के रूप में सामने आता है। आठ बजे रात में किसी अपरिचित लड़की के एस्प्रो की टिकिया माँगने पर परेश का पाँच रुपये खर्च कर शहर जाना और दो आने की टिकिया देना भी कोई गहरी अनुभूति न जगाकर विद्रूप का भाव ही पैदा करता है।

हाँ, पुस्तक समाप्त करने पर शीर्षक की सार्थकता एक दृष्टि से सिद्ध होती दीखती है। करुणा का वास्तविक व्यक्तित्व दराजों में बन्द दस्तावेज की तरह है, जिसे परेश कोशिश करके भी खोल नहीं पाता।

हिन्दी उपन्यास में प्रस्तुत कृति अपनी विशेष पहचान बना पाएगी, इसमें सन्देह है।

—गोपाल राय

देहगन्ध[1]

यदि शीर्षक को हम किसी पुस्तक के केन्द्रीय विषय का संकेत मानें तो 'देहगन्ध' का विषय होगा नारी शरीर के प्रति पुरुष की आदिम भूख की अभिव्यक्ति। उपन्यासकार का उद्देश्य मनुष्य की इस आदिम भूख का चित्रण करना जान पड़ता है, यद्यपि उपन्यास में हमारा अधिक ध्यान एक परिवार के सम्बन्धों के अलगाव और विघटन की ओर जाता है। अपने विषय के चित्रण के लिए उपन्यासकार ने जो कहानी गढ़ी है उसमें विस्तार और जटिलता नहीं है; यद्यपि मार्मिक बिन्दु उसमें अनेक हैं। कारीगर अपने बेटे के निकम्मेपन और आवारापन से परेशान है। उसकी परेशानी इस बात से है कि वह अपने बेटे में अपना प्रतिरूप देखना चाहता है। वह स्वयं एक कर्मठ, ईमानदार और इज्जत-आबरू वाला आदमी है और अपने पुत्र को इसी दिशा में अग्रसर होते देखना चाहता है। पर उसका पुत्र जमुना उसे पूरी तरह से निराश करता है। कारीगर उसे सुधारने के लिए कठोर से कठोर दंड देता है, पर जमुना के चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसके भीतर का आदिम बर्बर जन्तु खुराफात करने के लिए कुलबुलाता रहता है और मौका मिलते ही अपने नग्न रूप में उपस्थित हो जाता है। उसकी माँ रुक्मिन उसे कारीगर के *अत्याचारों से* बचाती रहती है और कारीगर के न चाहने पर भी जमुना का विवाह करके घर में बहू लाने का स्वप्न पूरा करती है। पर सास बनने का सुख उसे नहीं मिलता; एक साल के भीतर ही उसकी मृत्यु हो जाती है। पत्नी के प्रति भी जमुना का व्यवहार बर्बरतापूर्ण ही रहता है। तब कारीगर भी जमुना के प्रति बर्बर हो जाता है, पर उसके भीतर अपने पुत्र के प्रति एक कोमल भाव भी है। वह चाहता है कि जमुना सन्तान का पिता बने। जमुना को सुधारने का उसके *पास एक ही अस्त्र है—दंड। जब वह दंड से नहीं सुधरता तो* उसे पत्नी के साथ ननिहाल भेज देने की योजना बनाता है। पर जमुना रास्ते से ही अपनी पत्नी को मारपीट कर स्वयं ननिहाल चलता बनता है। जमुना की पत्नी पुनः कारीगर की छत्र-छाया में लौट आती है। पर इस बार कारीगर की वंश-लालसा अपने उद्दाम रूप में व्यक्त होती है और

---

१. देहगन्ध, ले० अजित पुष्कल, प्र० सुविचार प्रकाशन, नई दिल्ली-१४, प्र० सं० जनवरी १९७१, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० १८४, सजिल्द, मूल्य ७ रु०

कुंज से विवाह के बाद भी इस ग्रंथि से पीड़ित रहता है। उसका दाम्पत्य जीवन कभी कभी इसी कारण अत्यन्त कटु हो जाता है। शालिनी का पति कुंज इस बात को नहीं जानता, पर वह भीतर ही भीतर घुटती रहती है। यह घुटन तब समाप्त होती है जब कुंज इस रहस्य को जानकर भी शालिनी को प्रेम से अपनाता है।

उपन्यास साधारण कोटि का है, अर्थात् साहित्यिक उपलब्धि की दृष्टि से इसमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। मनोरंजन की दृष्टि से उपन्यास पढ़ने वालों के लिए इसमें कुछ सामग्री मिल सकती है।

सकलदेव शर्मा

आइने अकेले हैं[1]

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन का घोषित उद्देश्य है : 'ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण'। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में भारतीय ज्ञानपीठ वर्षों से प्रयत्नशील रहा है और उसे हिन्दी प्रकाशन जगत् में पर्याप्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो चुकी है। भारतीय ज्ञानपीठ से किसी पुस्तक का प्रकाशित होना उसकी श्रेष्ठता का भी प्रमाण होता है।

र कृश्नचन्दर लिखित 'आईने अकेले हैं' को प्रकाशित करने में भारतीय ज्ञानपीठ ने कौन सी सौटी अपनायी है, यह समझ में नहीं आता। यह न तो 'ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री' है, न 'लोक-हितकारी मौलिक प्रकाशन'। यह तथाकथित उपन्यास न लोक-हितकारी' है न 'मौलिक'। उपन्यास तो इसे कहना असंगत ही है; यह एक कथामात्र है जो फिल्मी फारमूलों पर निर्मित है। इसकी कोई थीम नहीं—यदि खींच खाँच कर कोई चीज खोजी भी जाए तो वह अनर्गल-सी होगी; 'विज़न' के नाम पर शून्य। कथा को रोचक बनाने के लिए मारपीट, मोटर एक्सिडेंट जैसी घटनाओं और चुम्बन आलिंगन, कैबरे नृत्य, बाल-नृत्य तथा सेक्स संकेतों का सहारा लिया गया है। इस कथा को पढ़ते समय यह साफ प्रतीत होता है कि कृश्नचन्दर के पास कथा को रोचक बनाने वाले लटकों का भी अभाव होता जा रहा है। कथा के बीच में कश्मीर-समस्या, हिन्दी लेखकों और पाठकों की स्थिति, भारतीय संस्कृति आदि पर पात्रों से जो बहसें करायी गयी हैं उनका उद्देश्य पृष्ठ भरने के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।

मुझे लगता है, कृश्नचन्दर अब अपनी लोकप्रियता का नाजायज फायदा उठा रहे हैं और वे पाठकों तथा प्रकाशकों को एक साथ गुमराह कर रहे हैं। उन्होंने लेखन को व्यवसाय बना लिया है; पर इसके लिए हम उन्हें दोषी नहीं कह सकते। अपनी मरजी जो जिस चीज को अपना पेशा बनाए। पर व्यावसायिक लेखन पर साहित्यिक लेखन की मुहर लगे, और वह भी भारतीय ज्ञानपीठ जैसी संस्था से, यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। मैं भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्ष श्रीमती रमा जैन और सम्पादक एवं नियामक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन से अनुरोध करूँगा कि

---

१. आइने अकेले हैं, ले० कृश्नचन्दर, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६, प्र० सं० दिसम्बर १९७१, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० १४९, सजिल्द, मूल्य ९.००

तुलसी और रत्ना के दाम्पत्य जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह विश्वसनीय नहीं लगता। तुलसी जैसा पढ़ा लिखा व्यक्ति, जिसका समाज में एक निश्चित स्थान हो, ऐसे भों आचरण भी कर सकता है ? घर की बात तो ठीक है, पनघट जैसी घटना विश्वसनीय नहीं दीखती

तुलसी के जन्म एवं पालन-पोषण की घटनाओं का गुम्फन सराहनीय है। घटनावों तारतम्य स्थापित हुआ है।

पुस्तक में प्रत्यग्दर्शन शैली को अपना कर लेखक ने घटनाओं की क्रमहीनता तथा खो हुए सूत्रों के समाधान ढूंढ लिये हैं। जीवन के अन्तिम क्षणों में मृत्युशय्या पर पड़े तथा पीड़ा से कराहते तुलसी के मानस में उभरते अपने पिछले जीवन के चित्रों के सहारे ही प्रस्तुत पुस्त का निर्माण हुआ है। बीच बीच में मलूक एवं नारायण जैसे शिष्यों के माध्यम से बिखरे सूत्र को समेटा गया है तथा दर्शनार्थियों एवं श्रद्धालुओं के द्वारा उनके प्रभाव एवं महत्ता का आभास देने की चेष्टा हुई है। किन्तु इस प्रणाली का सहारा लेने से सूत्रों के बिखराव को समेटने तथ कल्पना को संयमित करने का अवसर तो लेखक को मिला है किन्तु तुलसीदास के वास्तवि महत्त्व, लोक में फैले उनके प्रभाव, तत्कालीन संघर्षपूर्ण जीवन में उनकी देन का वह रूप नहीं आ पाया है जो उनकी रचनाओं में हमें मिलता है। अनुश्रुतियों में भी कतिपय का उल्लेख मात्र ही हुआ है यथा केशव से गोस्वामी जी से मिलने की घटना। इसका उपयोग अच्छी तरह किया जा सकता था।

—रामदीन मिश्र

लोग कहें घर मेरा[1]

इस उपन्यास में अपराध विषयक समस्या की प्रधानता है। यह एक रोमांचकारी सामाजिक उपन्यास है जिसमें समाज की विकृतियों और उसके नग्न यथार्थ का निरूपण है। 'नयी सभ्यता के दौर में भारतीय समाज के अधकचरे पूर्वी पश्चिमी रंग की बड़ी करुण तथा रोमांचकारी कहानी है। जरूरत से ज्यादा ऊँची नाक वाले सम्भव है इसमें कहीं कहीं पर स्पष्ट चित्रण से नाक-भौं सिकोड़ें''। अपराध एवं व्यभिचारपूर्ण समाज की सच्ची-खरी तस्वीर उतारने का लेखक का साहस प्रशंस्य है।

उपन्यास का कथानक अपराध-शास्त्र, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान तीनों भाव-भूमियों को स्पर्श करता है। इसका नायक एक सूदखोर महाजन है। आदि से अन्त तक वह कथानक पर छाया रहता है। हर घटना से किसी न किसी प्रकार से उसका सम्बन्ध है। उसकी पत्नी सुशीला अध्यापिका से समाज-सेविका बन जाती है, लेकिन बैनर्जी के साथ रंगरलियाँ भी मनाती है। वकील बैनर्जी 'विलन' का पार्ट बखूबी अदा करता है। जुए के अड्डे और भटियारखाने से उसे भारी आमदनी है। वह बंगाल से डाका डलवाता है और चकला चलाने जैसे व्यभिचारपूर्ण कुकृत्य करता है।

'नारी निकेतन' की तथाकथित समाजसेविका न केवल स्वयं वेश्यातुल्य जीवन भोगती है, वरन् माधुरी जैसी साध्वी कुल की बालिकाओं को भी इसी नारकीय अग्नि में झोंककर उनके

---

१. लोग कहें घर मेरा, ले० परिपूर्णानन्द वर्मा, प्र० शोध संस्थान प्रकाशन, जयपुर, प्र० सं० १९६८, [illegible] बुक हाउस, पृ० सं० २२७, सजिल्द, मूल्य ४.००

को निन्दनीय ठहराता है, और परम्परागत भारतीय मूल्यों की श्रेष्ठता घोषित करता है। कहीं कहीं यह 'समर्थन' इतना अनावश्यक और उबाऊ हो गया है कि पृष्ठ के पृष्ठ बिना पढ़े ही उलट देने पड़ते हैं। परम्परागत मूल्यों में लेखक की आस्था इतनी गहरी और प्रबल है कि वह आधुनिक चिकित्सा प्रणाली, अनिवार्य शिक्षा, नल के पानी और बिजली जैसी आधुनिक सुविधाओं तक का विरोध और देवदासी प्रथा, श्राद्धकर्म, पितरपूजा, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रम जैसी बातों का समर्थन करता है। इस आग्रह के कारण उपन्यासकार अपने आस पास की जिन्दगी का बहुत विश्वसनीय चित्रण नहीं कर पाया है। अतिलौकिक वस्तुओं में उपन्यासकार की आस्था के कारण उपन्यास में उनकी प्रधानता हो गयी है। कथा का आरम्भ ही सर्पवेशधारी सुब्रह्मण्येश्वर स्वामी द्वारा एक गाय का दूध पी जाने की घटना से हुआ है। साँप के द्वारा गाय का दूध पी जाने की घटना असम्भव नहीं है, पर उपन्यास में यह प्रसंग गौण रूप में ही आ सकता है। उपन्यास प्रधानतः मनुष्य की गाथा है, देवताओं, पशु पक्षियों या कृमि कीटों की नहीं। किसी देवता का सर्प के रूप में किसी गाय का दूध पी जाना, गाय का स्वयं उसकी बाँबी पर जाकर दूध गिराना, और देवता का गाय के स्वामी को मन्दिर निर्माण के लिए स्वप्न देना आदि घटनाएँ ऐसी हैं जो उपन्यास का विषय नहीं बन सकतीं। सर्पवेशधारी सुब्रह्मण्येश्वर स्वामी का वर्णन समस्त उपन्यास में छाया हुआ है जो तर्क और बुद्धि की कसौटी पर यथार्थ नहीं प्रतीत होता। गिरिका का कृष्ण के प्रति प्रेम भी आधुनिक युग में कोई महत्त्व नहीं रखता, जबकि इस प्रसंग ने दर्जनों पृष्ठ ले लिये हैं। साँपों के साथ हरिया की क्रीड़ा भी एक असामान्य प्रसंग है।

उपन्यासकार के सम्बन्ध में एक बात अत्यन्त विश्वास के साथ कही जा सकती है। वह पुराने मूल्यों के धराशायी होने की अपनी पीड़ा को उपन्यास में प्रस्तुत करना चाहता है और इसमें उसे पूरी सफलता मिली है। मध्यकाल और आधुनिक काल की संक्रान्ति में पश्चिमी विचारधारा, रहनसहन और सभ्यता की जो अन्धाधुन्ध नकल भारत में शुरू हुई थी वह सब की सब ग्राह्य नहीं थी। आधुनिक सभ्यता के आगमन से सर्वाधिक आघात पहुँचा मध्यकालीन मानस को जो प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि मानवीय गुणों से ओतप्रोत था। इन भावनाओं का स्थान लिया व्यक्तिवादिता, स्वार्थपरता, निर्मम बौद्धिकता, कृत्रिम व्यवहार आदि ने। कवि सम्राट् विश्वनाथ सत्यनारायण इस बदलाव की प्रक्रिया को झेल नहीं पाते और उनका आक्रोश उपन्यास में प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त होता है। वह प्रतिक्रिया ही उनसे आधुनिक सभ्यता की हर बात का विरोध और सड़े गले प्राचीन मूल्यों का समर्थन कराती है। यदि हम उपन्यासकार के इस पूर्वग्रह पर ध्यान न दें तो पाएँगे कि लेखक के मन में अपने राष्ट्र, अपनी धरती अपने धर्म, अपनी परम्परा और अपने देशवासियों के प्रति असीम प्यार है और उसकी प्रतिक्रियावादी विचारधारा अँगरेज और उनके द्वारा थोपी गयी अवांछित आधुनिकता का परिणाम है।

विश्वनाथ सत्यनारायण ने यद्यपि साठ से ऊपर उपन्यास लिखे हैं, पर वे मूलतः कवि हैं। कवि स्वप्नद्रष्टा भी हो सकता है, पर उपन्यासकार का नाता यथार्थ से होता है। उपन्यासकार मनुष्य और उसके भाग्य की यथार्थ कहानी प्रस्तुत करने में जितना रस लेता है, उतना प्रकृति-चित्रण में नहीं। प्रकृति उसके लिए गौण होती है। एक स्वस्थ आदमी के जीवन में प्रकृति जितना स्थान पा सकती है, उपन्यास में उससे ज्यादा गुंजायश उसको नहीं होती, पर विश्वनाथ सत्य-नारायण इस बात को नहीं मानते और प्रकृतिविषयक प्रसंग सामने आते ही उसका विस्तार आलंकारिक विवरण खोलकर बैठ जाते हैं और पाठक वैसे प्रसंग आने पर पृष्ठ उलट कर आगे

हीं जाता। उदाहरण के लिए वासन्ती और विदथ का प्रेमप्रसंग इतना धीरे धीरे आगे बढ़ता है कि रसाघात उपस्थित होने लगता है। जैसे किसी ने हथेली पर आग रखी और सद्यः उसे फेंक दी, फिर रखी फिर फेंक दी। लेकिन वासन्ती के प्रेम पर जब वितथ अविश्वास जाहिर करता है तो हृदय में दर्द और आँखों में समर्पण का जल भरकर भी वासन्ती का नारीत्व पौरुषपूर्ण हो जाता है और वह स्नेह का आँचल समेट लेती है। आस्था और विश्वास ही पौरुष को द्योतित करते हैं। राष्ट्र का वीर जब मर जाता है तो शृंगार भी जीवित नहीं रहता। इसलिये वासन्ती को पौरुष चाहिए ताकि उसका शृंगार नहीं लुटे। इस प्रकार यह यथार्थ जीवन-दर्शन एकबारगी चिन्तन को झकझोर देता है। इस प्रकार लेखक ने घटना की गति नही प्रगति पर ध्यान दिया है। कला को कम विचार को ज्यादा पकड़ा है।

उपन्यास का सबसे कमजोर पक्ष है चरित्रांकन का वैविध्यपूर्ण न होना। पुरुषों में व्यस्कर, वितत, नीलकंठ, और स्त्रियों में माधवी, जगती आदि सबके सब घुमा फिराकर एक ही ढंग के हैं। सिवा मारकाट, लड़ाईझगड़ा और भोग विलास के इनके जीवन में और कोई काम नहीं है। परशुराम भी केवल बीच बीच में और विकराल रौद्र रूप प्रदर्शित कर पाते हैं और क्षत्रियों का नाश करने की अपनी प्रतिज्ञा दुहरा जाते हैं। मेरी दृष्टि में इसका कारण यह हो सकता है कि लेखक की दृष्टि युगीन परिस्थितियों और समस्याओं के चित्रण में ही ज्यादा रमी है क्योंकि उस युग का एक ही स्वर है, भोग विलास और दमनचक्र।

उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें भारतीय संस्कृति की प्रयोगशीलता के परिप्रेक्ष्य में युद्ध की समस्या उठायी गयी है। परशुराम का व्यक्तित्व प्रयोगधर्मी है जो राष्ट्र को राजसत्ता के अत्याचार से बचाने के लिये युद्ध को स्वीकार करता है। लेखक के सामने अनेक प्रश्न हैं। क्या यह युद्धवाद ठीक है? क्या भारत की प्राचीन संस्कृति का यह प्रयोग आधुनिक युद्धवादियों को कोई दिशा दे सकता है? आदि आदि। इन्ही प्रश्नों और जिज्ञासाओं को रखकर लेखक पाठकों का औत्सुक्य-वर्धन करता चलता है। विशुद्ध कलाकार वैज्ञानिक की तरह निष्कर्षों की स्थापना में नहीं सन्देहों के अरण्य में भटकता है। श्री दवे का कलाकार भारतीय संस्कृति की प्रयोगधर्मिता पर प्रश्न उठाता है उस पर श्रद्धा नहीं करता। लेखक की दृष्टि में एक ओर प्राचीन युद्धवादी परशुराम हैं तो दूसरी ओर आधुनिक युद्धवादी हिटलर। लेखक के सामने यह भी प्रश्न है कि दोनो मे कौन ठीक है। हिटलर की युद्धनीति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न है। सुनते हैं हिटलर चित्रकार बनना चाहता था लेकिन उसके पिता ने उसकी रुचि के विरुद्ध काम किया। फलतः सर्जक आत्मा विध्वंसक बन गयी। लेकिन परशुराम के साथ ऐसी बात नहीं थी। उनका मानस तो सत्ताधारियों के घृण्य, विलासपूर्ण जीवन और प्रजा के दर्द से आन्दोलित था। दोनों मे कौन ठीक है? भारत या यूरोप? उपन्यासकार सन्देहभरी निगाह से देखता है। इसीलिए उपन्यास का 'विश्वजित' नाम भी प्रश्न उठाकर मूक है किसने विश्व को जीता है—परशुराम या हिटलर ने?

उपन्यास की भाषा शैली हिन्दी उपन्यास की दृष्टि से प्रवाहपूर्ण है। कहीं कहीं पंडिताऊ प्रयोग खटकते हैं फिर भी भाषा की सहजता वातावरण को चित्रमय बनाने में सफल हुई है। संस्कृति के अध्येताओं के लिए यह उपन्यास अन्वेषण का रास्ता दे सकता है और अत्याधुनिक विचारवालों के लिए एक चुनौती क्योंकि इसमें वर्तमान का अतीत ही नहीं युग से उसका तारतम्य भी स्पष्ट है।

—जनार्दन प्रसाद सिन्हा

लिखा गया है तो यह लेखक की असफलता ही मानी जाएगी। 'फार्मूला बद्धता' साहित्य में गाली का पर्याय है। यों महसूस सभी करते हैं कि प्रायः हर रचना कहीं गहरे में 'फार्मूलाबद्ध' ही होती है। भले ही वह 'फार्मूला' बहुत ही सूक्ष्म और नितान्त मौलिक ही क्यों न हो ! इस बारे में 'आत्मीय' के लेखक अवधनारायण सिंह ने खुद कहा है—"जो कहानीकार कहानी के स्वतन्त्र विकास को अपने हाथों की कठपुतली बनाता है या उसके रचनात्मक प्रवाह को जान-बूझकर नियन्त्रित करता है वह कहानी को फार्मूलाबद्ध बना देता है।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ९ मई, '७१)

लेखक ने 'आत्मीय' की कहानियों में स्वयं यही किया है। भले ही ऊपरी तौर पर यह लगता है कि भाषा बड़े ही सहज रूप से उबड़ खाबड़ है, कथ्य कुछ जटिल और 'टफ' है, और पात्र बेहद आत्मीय हैं और साथ ही हिंसक भी। पर दुबारा पढ़िए, तो जैसे सारी कलई निकल आती है। भाषा भी सुचिन्तित रूप से गढ़ी हुई है, कथ्य भी बड़े ही लिजलिजे ढंग से प्रस्तुत हुआ है और पात्र तलवार भाँजती कठपुतलियों से कुछ अधिक नही हैं। यद्यपि मार्कण्डेय सिंह ने श्मशानी भाषा में धमकी जरूर दी है—"इसका कोई पात्र आपको एक फैंट जमा देगा और आप चारो खाने चित्त पड़ जायेंगे।" और हो सकता है—"आपकी झुंझलाहट से तंग आकर आपके चेहरे पर एक थप्पड़ जड़ दे—।" जबकि वस्तुतः ऐसा कुछ नही है। मार पीट तो दूर, वे तो बेचारे पाठक को छूते भी नही। और जब छूते ही नहीं तो—"रूई से सेंकने की सलाह देकर आत्मीय" बन जाने की बात तो सरासर बेमानी है। हां, लेखक के किसी आत्मीय को ऐसा जरूर लग सकता है—मगर उस पाठक को तो नहीं ही लगता जिसने इस (मैं × वह) शैली का उत्कृष्ट उदाहरण ओसामुदजाई की 'कर्टसी काल' पढ़ रखी हो और सन् ६६-६८ की उन सभी कहानियों को आत्मसात् कर लिया हो जिनमें 'मैं' और 'वह' ने खूब ही गुल खिलाये थे—चाहे फिर कहानीकार गंगाप्रसाद विमल हों या फिर अवधनारायण सिंह—और इस तरह ऐसी कहानियों की शिल्पगत जालसाजी से पूरी तरह परिचित हो चुका हो।

किसी भी कहानी का 'बहुचर्चित' होना उसके अच्छे होने का सबूत कतई नही होता। 'एक कमजोर लड़की की कहानी' क्या कम चर्चित हुई थी ? 'मांस का दरिया' पर क्या क्या सूरत फतवे नहीं जड़े गये ! लेकिन आज इसे पढ़ने समय क्या कुछ भी ऐसा अहसास होता है कि ये 'अच्छी' ही नही, बल्कि महत्वपूर्ण भी हैं ? अक्सर यही देखने में आया है कि वे कहानियां बड़ी आसानी से चर्चा का विषय बन जाती हैं, जिनमे कथ्य या शिल्प के स्तर पर थोड़ी भी चमत्कारधर्मिता होती है। कभी कभार अच्छी लगनी कहानियां भी किन्ही गलत आधारों पर चर्चित होती हैं और पाठकों के लिए एक हौआ सी बन जाती हैं; जैसे 'यारो के यार'। 'बहु चर्चा' के इस अति-प्रचलित 'मिथ' से न प्रभावित होते हुए ही किसी कहानी को जांचना चाहिए कि आखिर वह क्या है ? क्यों है ?

'आत्मीय' की कहानियों में कथ्य क्या है ? "परायची और अस्तित्वहीन होकर जीना आज के आदमी की नियति है" और "आत्मीय की कहानियां इस नियति के नये साक्षात्कार की कहानियां हैं, जिनमें इन्वाल्वमेंट की चेष्टाओं की विफलता और व्यवस्था में अकेले हो जाने या भीड़ बन जाने की दुहेरी परिवेश की आक्रामक भयावहता के साथ प्रस्तुत है।" (मधुनाथ सिंह, सारिका, मई १९७१)

सभी कहानियां "मात्र समय-आवेश न होकर बोध-आवेश है।"

(मार्कण्डेय सिंह, निबन्ध १)

...श करने के लिए उपलब्ध हैं—वहाँ वह अवधनारायण सिंह को काफ़्का भी समझ लेगा। हुए कोई समझानेवाला पावलोव। सारांश में 'आत्मीय' इस संकलन की लचर और अर्थहीन ...नियों में से एक है।

पाठक ज्योंहीं दूसरी कहानी 'पार्टनर' पढ़ना शुरू करता है त्योंही उसे लगता है कि वह ...री कहानी नहीं, बल्कि पहली ही कहानी पढ़ रहा है और यह अहसास फिर उसे हर कहानी ...होता है। ऐसा लगने लगता है कि जैसे बार बार एक ही कहानी, वेश बदल बदल कर आ ...ी हो। शायद ऐसा हुआ हो कि अवधनारायण सिंह ने इन नौ कहानियों में से कोई एक ...ले लिखी हो और फ़तवावादी आलोचकों की मेहरबानी से (दुर्भाग्यवश!) बहुचर्चित हो गयी ...। फिर क्या था? उन्होंने सोचा होगा कि ऐसी ही 'एक और कहानी' लिखी जाय ताकि वह ...बहुचर्चित हो जाए। इस तरह संग्रह की लगभग हर कहानी कहीं न कहीं 'एक और कहानी' ...ने का आभास देती है। यों अवधनारायण सिंह आज भी इस मोह से मुक्त नहीं हो सके हैं, ...नकी सद्यः बहुचर्चित कहानी 'पाड़ा' से यह स्पष्ट है। यह दूसरी बात है कि कलकत्ते के अजनबी-...न की जगह अब नक्सलवाद ने खलनायक की भूमिका अपना ली है। 'पार्टनर' में भी लगभग ...ही समस्या है—'इन्वाल्वमेंट' और 'एडजस्टमेण्ट' की। इसमें तत्कालीन फ़ार्मूलों का खुलकर ...योग हुआ है। जब 'वह' शराब के नशे में धुत किसी लड़की को साथ लेकर कमरे में आता है ...ो पाठक को निर्मल वर्मा की 'अमीलिया' जैसी न जाने कितनी कहानियाँ याद आने लगती हैं। ...ों यह कहानी 'आत्मीय' की अपेक्षा अधिक सफल है। कम से कम 'संवादों' की शतरंज तो ...समें नहीं है। पाठक सारे फ़ार्मूलों के बावजूद किस्से का मज़ा लेता हुआ 'मैं' की 'सफ़रिंग' ...ो नज़दीक से महसूस करता है।

बीच की तीन कहानियाँ इस क्रम में नहीं आतीं। वे ज़रा अलग सी है। 'ऐंटी कमरा' में 'मैं' और 'वह' की भूमिकाएँ बदलती रहती हैं। बूढ़ा, जवान लड़की, परिवार, कमरा जैसे सभी, कभी 'मैं' हैं तो कभी 'वह'। कहानी की 'थीम' देखकर ऐसा लगता है कि अगर कलम किसी वयस्क हाथ में होती तो निस्सन्देह अच्छी बनती। 'आत्मीय' का लेखक इस कहानी के उचित बिखराव को समेटने में नितान्त असफल सिद्ध हुआ है। 'तीन घंटे' कहानी अच्छी तो खैर, कतई नहीं है लेकिन पाठक को विश्वसनीय जरूर लगती है। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि इसमें 'मैं' और 'वह' का झगड़ा नहीं है। सीधा सादा एक 'वह' है जो तत्कालीन कहानियों के नायकों के समान खीझता और ऊबता हुआ भी हड्डी-मांसदार मानव लगता है। और इसलिए पत्नी के आश्चर्य करने पर भी कि—'यह आदमी मानसिक रूप से तन्दुरुस्त है या नहीं'—पाठक कतई आश्चर्य नहीं करता। यह और बात है कि उसे दूसरी कई ऐसी कहानियाँ याद आने लगती हैं जिनका नायक पत्नी के जिस्म में ही अपनी फ्रस्ट्रेशन और ऊब का समाधान ढूंढ़ता है और पाता है। लेकिन यह तो अशोभन स्थिति हो जायेगी कि अवधनारायण सिंह की कहानी पढ़ते समय कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ' याद आने लगे।

और अब 'मुक्ति' और 'जुलूस'। 'मुक्ति' में भी 'मैं' और 'वह' है। ...मा 'वह' का रोल निभाता है। इसमें 'वह' अपने किसी आक्रामक रुख से नहीं तो ... तरह ... या ... ही 'मैं' को ... कर देता है। लेकिन यह कहानी ... है। अच्छी है। इसे पढ़ते समय भी खीझ होती है पर कहानी की वजह से नहीं बल्कि कहानीकार की वजह से। क्योंकि वह ... पाठकों और पात्रों के बीच में कूदकर अपनी बुद्धिमत्ता ... बघारने लगता है—"धीरे धीरे ...

तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करती हैं। मास्टर बुधराम अपनी बीबी की जिन्दगी माँगता है, क्योंकि
। सात फेरे डालकर संग लाया था। क्योंकि वह आत्मा-परमात्मा, मुक्ति-बन्धन, पाप-पुण्य के
तर्द्वन्द्व में फँसा है। वह एक बच्चा भी चाहता है जो उसके वंश की रक्षा कर सके।
केन, न उसकी पत्नी गोमती के दौरे जाते हैं न उसे बच्चा ही मिलता है। वह अपनी पत्नी
राक्षसी व्यवहार भी करता है। इस तरह कहानी में आज के आधुनिक मनुष्य की जातीय
ृतियाँ सहज ही उभार पा गयी है। इस कहानी का समकालीन मनुष्य संस्कारों में अपने वक्त
कई हजार वर्ष पीछे है और आधुनिक भी है।

इन कहानियों के सम्बन्ध में कमलेश्वर के इस कथन से कि 'इन कहानियों में कुछ
तिरिक्त है—यानी आदमी गुस्सा है तो जरा ज्यादा गुस्सा है, लाचार है तो बेहद लाचार है,
ालाक है तो निहायत चालाक है, व्यवसायी है तो पूरा व्यवसायी है, हिंस्र है, तो बेहद हिंस्र
, आदमी है तो सचमुच आदमी है, जो भी स्थिति प्रसंग, सन्दर्भ, क्षण, विशिष्टता और
मजोरी है, वह घनीभूत है।" आसानी के साथ सहमत हुआ जा सकता है।

ये कहानियाँ मध्यम वर्ग की नाराजगी, टूट, आक्रोश, पीड़ा, दहशत की कहानियाँ हैं।
बना किसी उलझाव के सीधी और सहज।

—नन्दकिशोर तिवारी

चेहरे और चेहरे[1]

इस पुस्तक में चार कहानियाँ तथा दो रेखाचित्र संकलित हैं। यद्यपि अनुक्रम में एक
रेखाचित्र 'भूख' का उल्लेख नहीं है।

'दुपहरी' इसकी प्रथम और सबसे अच्छी कहानी है। बुरा और बुरे को बुरा समझने
वाला—सबकी बखिया उधेड़ कर लेखक रख देता है। उपदेश वह नहीं देता, कोई सस्ता हल भी
नहीं बताता; वह पाठक को सोचने के लिए छोड़ देता है।

यह खूबी सभी कहानियों में है।

'दुपहरी' में कथ्य के आगे बड़ा पेंचदार मुहाना है। ऐसा लगता है कि किसी महल में
प्रवेश कठिन करने के लिए जानबूझ कर यह भूल-भुलैया बनायी गयी हो। कथा को इनसे सहारा
नहीं मिलता, बल्कि ये उसमें जुड़े हुए बोझिल हालर लगते हैं।

'अशरीरी' सामान्य से ऊपर उठकर बने सम्बन्धों की कहानी है। 'बहने के डर से जंजीर
पकड़कर डुबकियाँ लगाने वालों' की कहानी इसे कह सकते हैं। इसमें जंजीर, पकड़ और सीझती
हुई लहर—सबका जोर अपनी जगह पर है। लेखक ने सबको निबाहा है और असामान्य स्थितियों
में भी सन्तुलन कायम रखा है। इस कहानी में यदि कोई उबा देनेवाला अंश है तो वह मीनू का
पत्र। अन्यथा हर चीज अपनी जगह पर सटीक है।

तीसरी कहानी है 'बैरिटल'। इस कहानी को ऊँचा दर्जा दिलाने में दो बातें सहायक

---

१. चेहरे और चेहरे, ले० पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्र० ... ..., १२ बी०, ... कलकत्ता-१२, प्र० सं० १९७१, आकार डिमाई, पृ० सं० ९४, सजिल्द, मूल्य ६.००

नायक कहीं से दुश्चरित्र नहीं है। पर भ्रान्त चरित्र नायिका स्वकीया बनते बनते उसी से परकीया बन जाती है। इस स्थिति में वह समझ नहीं पाती कि 'जोर से हँसे या धीरे से रोये।' यह रोने और हँसने के बीच की द्विधा ही रही होती तो ठीक था; पर यह कुंठाग्रस्त स्त्री पीयूष के मुख पर पूर्ण सन्तोष की झलक' देखकर अपनी हार अनुभव करती है।

यदि लेखिका का उद्देश्य अपनी स्वतन्त्रता के प्रति सतर्क नारी का चित्रण करना रहा है, तो *वह एकदम असफल है, क्योंकि जिस हंसा के द्वारा वे समाज की रीतियों को परिवर्तित करना* चाहती है उसके पास न दिल है न दिमाग। 'अकेली हंसा' उस अल्पसंख्यक नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो पुरुष को सुख-सन्तोष दिये बिना ही उस पर आधिपत्य रखना चाहती है, जो इस भ्रम में पड़ी है कि प्रसव ही नारी का यौवन हरता है।

'धागे' शीर्षक कहानी की नायिका कहती है—'क्या स्त्री पुरुष में सहज बन्धुत्व नहीं हो सकता।' इस प्रश्न के साथ नकारात्मक उत्तर की ध्वनि निकलती है और प्रकारान्तर से लेखिका पुरुष को ही दोषी मानती है। इसी तरह अन्य कहानियों की नायिकाएँ भी है—असहज, लेकिन सहज सम्बन्ध की दुहाई देने वाली।

'डायरी' शीर्षक कहानी मे उदाहरण ही उदाहरण है और सब एक ही बात की पुष्टि मे दिये गये हैं कि विवाह होते ही नारी मुरझा जाती है, विवाह ही दुःख का कारण है, विवाह कर कोई भी नारी अपना व्यक्तित्व बनाये नहीं रख सकती। नायिका भूल से विवाह कर बैठी है। पति में कहीं कोई दोष दर्शाया नहीं गया है। लेकिन नायिका का दुःखी होना जरूरी है इसलिये दुःखी है।

'रिश्ता' एक अत्यन्त भोंडी कहानी है। इसमे दो पुरुष पात्रों में एक है रमेश जो स्त्री से रुपये लेकर निहाल होता हुआ अपने नाजायज बेटे को याद मे बिलट कर कहता है—'साला बड़ा याद आता है।' इस पुस्तक में अधिकांश पुरुष पात्र ऐसे ही पुंसत्वहीन हैं या फिर लम्पट।

'लहर ऊँची उठी' की नायिका कहती है—'मैं सिर्फ अच्छी प्रेमिका बनना चाहती हूँ, इसी मे औरत के सारे अवगुण छिपते है।'—इस पुस्तक की तमाम पात्रियाँ अपने अवगुण छिपाने के प्रयास में हैं। एक भी ऐसी न दीखी जो अपने गुणों के विकास की चेष्टा करे।

'चाईन' शीर्षक कहानी सिर्फ एक पंक्ति के कारण धराशायी हो गयी है—'पुरुषों का चातुर्य स्त्रियों की कमजोरी से खिलवाड़ करना…'।

इस पुस्तक की नायिकाओं के व्यक्तित्व मे रीढ़ का अभाव है। इनमे से प्रत्येक पुरुष के साथ अपने असहज तथा विकृत सम्बन्ध से दुःखी है। इस दुःख के लिये लेखिका ने सदा ही पुरुष को दोषी ठहराने की कोशिश की है। लेकिन कहीं भी किसी भी नायिका के चरित्र में ऐसी उदात्तता नहीं उभरी है कि उसका व्यक्तित्व पुरुष के सम्मुख विराट होकर प्रकटे।

भाषा…सम्भवतः छपाई की त्रुटि से भाषा-भूलों की भरमार है। ऐसी पुस्तक से हिन्दी का भंडार श्रीयुक्त नहीं होगा। बल्कि लोग भ्रम मे पड़ेंगे कि हिन्दी में यह क्या सब लिखा जाने लगा।

गनीमत है कि मूल्य (दस रुपये) देखकर कम ही लोग इसे खरीदेंगे।

—सुधा

जिसमें पिता अपनी पुत्री को केवल इसलिए पीटता है कि वह उससे प्रेम करती है। यदि इसे कहानी पर अपना मत थोपने का प्रयत्न न समझा जाए तो कहना चाहूँगा कि बेहतर होता यदि इस कहानी के केन्द्र में नये सम्बन्धों की तलाश होती ठीक उसी तरह, जिस तरह ज्ञानरंजन की रचना 'सम्बन्ध' में है। 'सम्बन्ध' का कहानीकार उस विगलित जीवन को जीते हुए पात्रों के साथ अपने सम्बन्धों में इतनी तटस्थता बना लेना चाहता है कि उनकी मृत्यु का अहसास भी उसे ठंडा नहीं कर पाता—किसी हद तक वह उन सम्बन्धों को मार देना चाहता है। इस सम्बन्ध में सुधा अरोड़ा की 'निर्मम' उल्लेखनीय रचना हो सकती थी। 'हो सकती थी' से मेरा तात्पर्य है, यदि उस पर और परिश्रम किया जाता। इस कहानी के सम्बन्ध में सम्पादक के शब्द—"भारतीय महिला कथाकार कवि पहले होती हैं, कथाकार बाद में। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ भावुकतापूर्ण और यथार्थ से काफी दूर होती हैं।"—एकदम सार्थक लगते है, पानू खोलिया की 'फासला' अन्य कहानियों से इतना ही फासला रखकर चलती है जितना उसका पात्र सुनील कथा-तर्क से। बेहद लम्बी कहानी को अब और विरोधाभासों से बचाने के लिए इस कथा-तर्क की आवश्यकता पड़ सकती है। कहानी का टेम्पो अन्तिम अंश में आकर यकायक टूट जाता है और कहानी गतिहीन (क्योंकि लेखक ने प्रारम्भ से ही उसे काफी गतिशील रखा है) हो जाती है, जैसे किसी ने दुर्घटना से बचने के लिए एकदम ब्रेक लगा दिये हों, और फिर भी दुर्घटना हो ही गई हो।

अवधनारायण सिंह की कहानी 'आत्मीय' इन कहानियों से अलग-सी है—एकदम अलग नहीं, सम्बन्धों की तलाश यहाँ भी जारी है, लेकिन उसके साथ एक तलाश और जुड़ गई है—अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा की। कुल मिलाकर 'आत्मीय' दिशाओं की खोज की सशक्त रचना है। इसलिए कि यह समाधान नहीं देती, तलाश तक ही सीमित रहती है।

संग्रह की बची हुई कहानी 'कुत्तेगीरी' (महेन्द्र भल्ला) इसमें क्यों सम्मिलित की गयी है, यह अब तक नहीं समझ पाया. शराब और कबाब का अपना 'रोमांस' होता है, जिसके लिए निर्मल वर्मा होना जरूरी है।

—सुरेश धींगड़ा

चार चिनार : दो गुलाब[1]

जब कोई कवि, और वह भी रोमानी कवि कहानियों के क्षेत्र में उतरता है, तब उसकी दिशा अन्य कथाकारों से भिन्न होती है। नर्मदा प्रसाद खरे के संकलन 'चार चिनार : दो गुलाब' में कुल नौ कहानियाँ है—चार चिनार : दो गुलाब, और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, मित, उखड़ा हुआ आदमी, बेचारी अनिता, वह एक क्षण, बहता पानी : अनबुझी प्यास, अधटूटी सावन, यादों में डूबी एक शाम। ये कथा-शीर्षक खुद एक रोमानी दुनिया की ओर इशारा करते है, जिसमें का कुछ भाग कथा-लेखक ने काश्मीर की वादियों में पाया है। संकलन की सबसे मर्म-स्पर्शी कहानी, जो संकलन का शीर्षक होने का गौरव भी पाती है, काश्मीर की घाटियों में बनी है। खरे जी की कहानियों में उनकी अपनी प्रतिक्रियाएँ मुख्य दुभाषिए का काम करती है। दुनिया के जिन टुकड़ों पर उनकी दृष्टि जाती है, उनके विषय में उनकी अपनी प्रतिक्रियाएँ है.

---

१. चार चिनार : दो गुलाब, ले० नर्मदा प्रसाद खरे, प्र० लोकचेतना प्रकाशन, १९८, राइट टाउन मार्ग, जबलपुर, प्र० सं० १९६८, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० १६८, सजिल्द, मूल्य ५.००

जिसमें पिता अपनी पुत्री को केवल इसलिए पीटता है कि वह उससे प्रेम करती है। यदि इसे हानी पर अपना मत थोपने का प्रयत्न न समझा जाए तो कहना चाहूँगा कि बेहतर होता यदि स कहानी के केन्द्र में नये सम्बन्धों की तलाश होती ठीक उसी तरह, जिस तरह ज्ञानरंजन की चना 'सम्बन्ध' में है। 'सम्बन्ध' का कहानीकार उस विगलित जीवन को जीते हुए पात्रों के ाथ अपने सम्बन्धों में इतनी तटस्थता बना लेना चाहता है कि उनकी मृत्यु का अहसास भी उसे ंडा नहीं कर पाता—किसी हद तक वह उन सम्बन्धों को मार देना चाहता है। इस सम्बन्ध में ाुधा अरोड़ा की 'निर्मम' उल्लेखनीय रचना हो सकती थी। 'हो सकती थी' से मेरा तात्पर्य है, ादि उस पर और परिश्रम किया जाता। इस कहानी के सम्बन्ध में सम्पादक के शब्द—"भारतीय हिला कथाकार कवि पहले होती हैं, कथाकार बाद में। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ भावुकतापूर्ण और यथार्थ से काफी दूर होती हैं।"—एकदम सार्थक लगते हैं, पानू खोलिया की 'फासला' अन्य कहानियों से इतना ही फासला रखकर चलती है जितना उसका पात्र सुनील कथा-तर्क से। बेहद लम्बी कहानी को अब और विरोधाभासों से बचाने के लिए इस कथा-तर्क की आवश्यकता पड़ सकती है। कहानी का टैम्पो अन्तिम अंश में आकर यकायक टूट जाता है और कहानी गतिहीन (क्योंकि लेखक ने प्रारम्भ से ही उसे काफी गतिशील रखा है) हो जाती है, जैसे किसी ने दुर्घटना से बचने के लिए एकदम ब्रेक लगा दिये हों, और फिर भी दुर्घटना हो ही गई हो।

अवधनारायण सिंह की कहानी 'आत्मीय' इन कहानियों से अलग-सी है—एकदम अलग नहीं, सम्बन्धों की तलाश यहाँ भी जारी है, लेकिन उसके साथ एक तलाश और जुड़ गई है—अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा की। कुल मिलाकर 'आत्मीय' दिशाओं की खोज की सशक्त रचना है। इसलिए कि यह समाधान नहीं देती, तलाश तक ही सीमित रहती है।

संग्रह की बची हुई कहानी 'कुत्तेगीरी' (महेन्द्र भल्ला) इसमें क्यों सम्मिलित की गयी है, यह अब तक नहीं समझ पाया. शराब और कबाब का अपना 'रोमांस' होता है, जिसके लिए निर्मल वर्मा होना जरूरी है।

—सुरेश धींगड़ा

चार चिनार : दो गुलाब[1]

जब कोई कवि, और वह भी रोमानी कवि कहानियों के क्षेत्र में उतरता है, तब उसकी दिशा अन्य कथाकारों से भिन्न होती है। नर्मदा प्रसाद खरे के संकलन 'चार चिनार : दो गुलाब' में कुल नौ कहानियाँ हैं—चार चिनार : दो गुलाब, और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, मित्र, उखड़ा हुआ आदमी, बेचारी अनिता, वह एक क्षण, बहता पानी : अनबुझी प्यास, अधटूटी सारस, यादों में डूबी एक शाम। ये कथा-शीर्षक खुद एक रोमानी दुनिया की ओर इशारा करते हैं, जिसमें का कुछ भाग कथा-लेखक ने काश्मीर की वादियों में पाया है। संकलन की सबसे मर्म-स्पर्शी कहानी, जो संकलन का शीर्षक होने का गौरव भी पाती है, काश्मीर की वादियों में बनी है। खरे जी की कहानियों में उनकी अपनी प्रतिक्रियाएँ कुछ दुराव का काम करती हैं। दुनिया के जिन टुकड़ों पर उनकी दृष्टि जाती है, उनके विषय में उनकी अपनी प्रतिक्रियाएँ हैं।

---

१. चार चिनार : दो गुलाब, ले० नर्मदा प्रसाद खरे, प्र० [illegible], १९६८, [illegible] पथ, जबलपुर, पृ० सं० ११६, [illegible], मूल्य ५.००

के हाथ में रहता है। नर्गिस, सिस्टर ब्राउन, डिसूजा, असिता, अलका, सुरेखा, शोभा, मीता—सभी नारियाँ अपनी अपनी कहानियों में अहमियत रखती हैं, कम से कम कहानी का बोझ वे ही ढोती हैं। जाहिर है कि कथाकार अपनी सर्वाधिक सहानुभूति नारी पात्रों को देता है। उनके भीतर झाँकने की कोशिश में वह काफी हद तक सफल कहा जायगा। नारियों के इर्द गिर्द घूमती हुई ये कहानियाँ, यथार्थ परिवेश को ध्यान में रख कर चलती हैं, और रोमानी अन्दाज के बावजूद हमें काल्पनिक दुनिया में ले जाकर नहीं छोड़ देतीं। यही इनकी आधुनिकता है। एक संवेदनशील कथाकार की निरीक्षण-क्षमता तो खरे जी के पास है ही, वे उन मुहावरों में भी बात करना जानते है, जो नये जमाने की भाषा में प्रयुक्त होता है। कही कहीं जरूर उनका कवि-रूप ज्यादा जोर मारता है, पर ऐसे स्थल कम है। संकलन की कहानियाँ सबूत हैं कि प्रतिभा अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देने के लिए नये माध्यमों की तलाश कर लेती है।

—प्रेमशंकर

जमी हुई झील[1]

'जमी हुई झील' रमेश उपाध्याय का सशक्त कहानी संग्रह है। उपाध्याय जी को आज की जिन्दगी 'जमी हुई झील' के समान लगती है जिसमे संवेदना का अभाव हो गया है। फिर भी उपाध्याय जी इससे ऊबते नही हैं और पथराए क्षण को तोड़ कर गति प्रदान करते हैं—सतह से टकराकर हार नहीं बैठते भीतर की गहराई तक जाना चाहते हैं। इस संग्रह की 'अस्ताचल' कहानी मे कहानी का 'वह' मुंडेर पर जमे हुए सूरज को धक्के देकर नीचे गिरा देता है क्योंकि उसने "इस बार पांडुलिपि को अन्त देने के विचार से यह यात्रा शुरू की थी। सड़क के ठंडे और सख्त कोलतार से शुरू होकर कोलतार के पिघलने तक सूरज साथ चलता-दौड़ता रहा था, लेकिन जैसे ही वह ऊँची इमारत आयी, सूरज उसकी मुंडेर पर जा बैठा और अभी तक बैठा था। यही तो परेशानी थी। अगर सूरज साथ चलता तो शायद शाम तक कोई न कोई अन्त मिल ही जाता। लेकिन सूरज तो शाम तक जाने से ही मुकर गया था।"

'उपजीवी' कहानी मे लेखक का कथ्य बड़ा ही विद्रूप भरा और रोमानी है। साहित्य के नये रचनाकार और उनकी नयी चीज का बड़ा ही घिनौना और अति यथार्थवादी रूप प्रस्तुत हुआ है। इसमे आलोचक और लेखक परम्परावादी साहित्य-संसार को छोड़ एक ऐसे कमरे में प्रवेश करते है—जो नये लेखकों की दुनिया है। यहाँ के रिवाज कुछ दूसरी तरह के हैं—यहाँ के लोग चांद सूरज की रोशनी को रोशनी नही मानते,—बलवान अपना मांस स्वयं खाता है और कमजोरों को तादाद एक दूसरे को खाती है। यहाँ का पारिश्रमिक है—औरत और शराब। यहाँ जो बोला जाता है, छप जाता है क्योंकि विज्ञान ने काफी प्रगति कर ली है। इसमें सभी नई रोशनी की तलाश मे है। इस कमरे मे आने वालों को आभिजात्यवादी शनगुर द्वारपाल एक बार रोकता है लेकिन उसकी बर्जना कोई नही स्वीकार करता। नंगापन यहाँ की विशेषता है। अगर कोई नया यहाँ के नियमों का विरोध करता है तो सभी उस पर टूट पड़ते है।

---

१. जमी हुई झील, ले० रमेश उपाध्याय, प्र० अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, २/३६ अन्सारी रोड, दिल्ली-६, प्र० सं० १९६९, आकार डबल क्राउन, सजिल्द, मूल्य ६.००

पीड़ित हैं। विजय का पत्र पाकर कारखाने का निरीक्षण करने तो जाती है पर सुधार कुछ
हीं कर पाती है—उलटे मजदूरों का अश्लील व्यंग्य सुनने को मिलता है। श्रीमती वर्मा
ो मजदूरों—शंकर मशीनमैन, फजल उस्ताद आदि की बातें याद आती हैं और शंकर मशीनमैन
ो याद करके उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं जिसने बचपन में उन्हें चूमकर कुछ दिखाया था और
हा था कि हल्ला करोगी या किसी से कहोगी तो मशीन में पीस दूंगा। आज भी वे सपने में
कर मशीनमैन को याद करती हैं। कहानी का संवेद्य है—स्त्री अफसर हो या और पदाधिकारी
सका स्त्रीत्व ही सर्वत्र प्रमुख हो जाता है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'ब्रह्मराक्षस' कही जा
कती है। इसका पदमू बहुत कुछ रेणु के 'मारे गए गुलफाम' के हीरामन की याद दिलाता है।
समें गंगा पुजारिन की कामपीड़ा ब्रह्मराक्षस के आवरण में दबी हुई है। इसे पदमू कभी कभी
मार देता है। गंगा पदमू की सरलता पर सौ जान से कुरबान है पर वह तो अपने मन की
ापा में गीत ही जोड़ता रहता है। आवेश में आकर कभी गंगा पुजारिन उसे बाहुपाश में कस
ती है तो स्त्री देह का उस भोले पदमू पर आकर्षण छा जाता है पर कुछ देर बाद वह उसे ब्रह्म-
ाक्षस की माया समझने लगता है। गंगा के साथ ट्रेजेडी यह है कि वह अगर गाँव छोड़ती है
ो उसे कोई नहीं छोड़ेगा और अगर यहाँ रहती है तो उसे ब्रह्मराक्षस के डर से कोई अपनाने
ाला नहीं मिलता। कालीचरन के साथ—वह सब कुछ हुआ, पर शादी करने से वह नकार
ाया। इसीलिए पदमू के समान सीधे मरद से भी वह अपने स्वाभिमानवश नहीं खुलती। अपनी
ेह का उन्माद उससे सहा नहीं जाता और कभी कभी उसे शंका होने लगती है कि कहीं मेरे
ंर सचमुच तो ब्रह्मराक्षस नहीं आने लगा। अन्त में पदमू भी दगा दे जाता है और सरसुती के
ाथ, जो उसकी भाषा का गीत जोड़ने लगी है, चला जाता है। गंगा पदमू और सरसुती का
ाशीर्वाद माँगते समय आशीर्वाद भी नहीं दे पाती। गंगा पुजारिन किसके साथ घर बसाये—
ाया विरन बाबू के साथ जो बाप की उमर के हैं। कहानी बड़ी रोमांटिक मुद्रा में लिखी गयी है।

'जुलूस' इस संग्रह की अन्तिम कहानी है जिसमें भीड़ की व्यर्थता को सिद्ध किया गया
है। जुलूस में नेताओं का तो स्वार्थ सधता है, पर जिनसे जुलूस बनता है वे सिर्फ भीड़ होते
हैं। सीताराम दिल्ली देखने के लिए जुलूस के साथ हो लेता है पर जुलूस के अनुशासन के नियम
उसे बुरे लगते हैं। जुलूस में आज्ञा से पेशाब करो—पानी पिओ आदि आदि। जब तक कहा
न जाए सब दबाये रहो।

इस प्रकार यह कहानी-संग्रह कुल मिलाकर आकर्षक लगा। उपाध्याय जी की यह भूमिका
कि समकालीन कहानी लेखक मुर्दे हैं कुछ जँचा नहीं। हाँ उनके उत्साह और लिखने की रुचि
को सराहा जा सकता है। 'उपजीवी', 'ब्रह्मराक्षस', 'तान्त्रिक' इस संग्रह की प्रशंसनीय कहानियाँ
मानी जा सकती है। उनके प्रयोगों की तुलना में प्रतिश्रुतियाँ उन्हें कहानीकार बनाने में अधिक
समर्थ सिद्ध होंगी।

—महेन्द्रनाथ राय

ऐसी पंक्तियाँ इस संग्रह में ढेर सारी हैं, पर स्थान संकोच के कारण उन्हें अधिक उद्धृत नहीं किया जा सकता।

रमेश रंजक ने अपने गीतों में अनेक ऐसे शब्दों को स्थान दिया है, जिन्हें अबतक अगीतात्मक समझा जाता रहा है—गुणा-भाग, रूई, ऊन, शनिवार, अम्ल, आलपिन, लकवा, चने, उपसंघृत, आदि। यह नहीं कि गीतों के संसार के सुपरिचित नञ् समस्त पद अनछुई, अनबोली, अनब्याही, अनकही, अनसुलझे अबूझी आदि नहीं हैं या तत्सम शब्दों के सरलीकृतरूप—हिरन, किरन, बानी, हिय, समुन्दर, पाती आदि का अभाव है, या लेखक भारती ब्रांड रंगीन रोमानी अभिव्यक्तियों—'चन्दन बाँहें' 'चंपई सिवाने', 'शरमीली साँवरी निशा' 'दुधिया मनुहार' 'हल्दिया बहारों' और 'किशमिशी फुहारों', से मुक्त है, पर यह सत्य है कि इन सबका समन्वय ताजा है, छूता है, कचोटता है और सस्ता नहीं लगता। यह किसी नये गीतकार के पहले संग्रह की बड़ी उपलब्धि ही मानी जायगी।

नये गीतों के प्रेमी रमेश रंजक के आगामी संग्रहों की प्रतीक्षा करेंगे, अब यह गीतकार के लिए चुनौती है कि वह हमें भविष्य में निराश न करे।

—*शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव*

इक्कीस सुबह और[1]

पाठकीय दृष्टि को आधार बनाकर काव्यसंग्रहों की कई कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। एक तो वे काव्यसंग्रह, जिनकी हिन्दी में अधिकता है और जो आये दिन ढेर के ढेर छपकर पुस्तकालयों की आलमारियों को सुशोभित करते रहते हैं और जिन्हें पढ़ते समय बेहद खीज और ऊब के अलावा और कुछ नहीं मिलता। ऐसे काव्यसंग्रहों को पढ़ते भी वे ही जन हैं जो या तो शोधार्थी होते हैं या समीक्षक या फिर नजदीकी रिश्तेदार। आज शकुन्त माथुरनुमा कवयित्रियों और भागीरथ भार्गवनुमा कवियों की एक पूरी की पूरी जमात—इस कोटि के काव्यनिर्माण मे तन मन धन से जुटी हुई है।

इनके विपरीत कुछ काव्यसंग्रह ऐसे होते हैं—जिन्हें पढ़ना अपने आप में एक उपलब्धि होती है। पाठक उनकी कविताओं की गहराई में डूबता चला जाता है। चाहे जितनी बार पढ़ ले पर तृप्त नहीं होता। जैसे साही का 'मछली घर' या मुक्तिबोध का 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' आदि।

यहाँ उन काव्यसंग्रहों को भी नहीं भूला जा सकता, जिनका पढ़ना उपलब्धि भले ही न लगे और जिन्हें पढ़ते समय कहीं कहीं खीजना और ऊबना भी पड़े पर जिनके महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। उन्हें पढ़ने के बाद पाठक खुद की संवेदना-शक्ति को समृद्ध महसूस करता है और उसकी कविता सम्बन्धी समझदारी मे भी कुछ बढ़ोत्तरी हो जाती है।

किन्तु स्वदेश भारती का कवितासंग्रह 'इक्कीस सुबह और' इनमें से किसी कोटि में नहीं आता। इसे पढ़ने के बाद अगर राय व्यक्त करने की कोई मजबूरी हो सिर पर आ जाए तो

१. इक्कीस सुबह और, ले० स्वदेश भारती, प्र० रूपाम्बरा प्रकाशन, ११ बी, [illegible] रोड, कलकत्ता-२१, प्र० सं० १९६९, आकार डिमाई, पृ० सं० ३४, सजिल्द; मूल्य ४.००

नितान्त व्यक्तिगत कविताएँ हैं।' और जहाँ कहीं कवि ने 'व्यक्तिगत' के दायरे से बाहर निकल कर 'देश' की बात की है—वहीं कविता बकवास सी होकर रह गयी है।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि कवि ने सामयिक परिवेश को माध्यम मात्र बनाया है; अभिव्यक्त तो वह अपनी परास्त स्थिति की पीड़ा को करना चाहता है। यह स्थिति और पीड़ा भी उसकी ओढ़ी हुई है—क्योंकि उसने कोई युद्ध लड़ा नहीं है—"परास्त हो चुका हूँ / सभी तरफ से—सभी युद्धों से / बिना युद्ध किये ही।"

ऐसा पराजय-बोध इस बात की भी भूमिका तैयार कर देता है कि व्यक्ति सभी को पराजित यानी समानधर्मा मान ले। ऐसा मान कर वह अपनी स्थिति के दंश को 'बौद्धिकीकरण' (Rationalization) द्वारा सह्य बना लेता है। जब, सब ऐसे ही हैं तो फिर हम हैं, तो क्या बुरा है? स्वदेश भारती ने भी कुछ शहीदाना सा अन्दाज अपनाते हुए समूची नयी पीढ़ी को भटकी हुई, पथहीन करार दे दिया है। "पथहीन / भटक रहे हैं हम / नयी पीढ़ी के लोग।"

यह दृष्टि जहाँ एक ओर छिछली रूमानियत का परिचय देती है जिसमें पहले तो खुलकर अपने को दुखी माना जाता है फिर अपने दुःख को 'प्रदर्शनवाद' की हदों को पार करते हुए विज्ञापित किया जाता है; वहीं दूसरी ओर 'ठण्डा लोहा' और 'हाथों में टूटी मूठ लिए' वाले धर्मवीर भारती से भी कवि को जोड़ती है। यह जुड़ाव ही इस संग्रह को आज की कविता से काफी पीछे सिद्ध कर देता है। आज की कविता में पराजय की प्रदर्शनधर्मी स्वीकारोक्तियाँ लगभग मिट चली हैं। कहीं मिलती भी हैं तो जैसे नितान्त क्षणिक। आज की कविता युद्धधर्मी होने में विश्वास रखती है और उसे न तो भीड़ से नफरत है, न नगर से और न अपने आप से। उसे नफरत है तो उन साजिश-कर्ताओं से है जो स्वदेश भारती जैसे कवियों को आत्मघाती भ्रामक लक्ष्यों की ओर 'महायात्रा' करने की प्रेरणा देते हैं। थोड़े में कहूँ तो आज की जूझती कविताओं के बीच 'इक्कीस सुबह और' का स्वर बेवक्त की रागिनी लगता है।

एक ओर तो यह पराजय-बोध; दूसरी ओर 'महायात्रा' कविता, जिसमें कवि कुछ इस तरह का बाना धारण करता है कि पाठकों को अनायास ही 'इस देश को रखना मेरे बच्चों संभाल के' तथा 'कर चले हम फिदा जानो-तन साथियो' जैसे फिल्मी गीत याद आ जाते हैं। साफ तौर पर ऐसा लगता है कि यह कवि के दोलायमान चित्त का दूसरा छोर है और कवि अपनी पराजय को 'ग्लोरिफाई' करके देखने की चेष्टा कर रहा है।

समूचे संग्रह में दो चार पंक्तियां ही ऐसी हैं—जो एक भिन्न सा मूड प्रस्तुत करती हैं। "खोज रहा हूँ एक जगह / जहाँ से अस्तित्व को बचाकर / अगले युद्ध के लिए / अपने को, प्रस्तुत करूँ।" यद्यपि वयस्क पाठक को यह समझते देर नहीं लगती कि यह भी पराजय-बोध का ही एक पहलू है। 'एक जगह' खोजने के पीछे कवि की पलायनवृत्ति ही काम कर रही है। यह निश्चित है कि वह 'एक जगह' उसे कभी भी नहीं मिलेगी। लड़ाका किसी भी जगह लड़ सकता है और कायर कहीं भी नहीं।

कवि ने तीन स्थानों पर पुस्तक के नाम का औचित्य सिद्ध करने वाला पंक्तियाँ लिखी हैं—"इक्कीस साल की लड़की पर / हो रहा है बलात्कार"……"इस इक्कीसवीं सुबह / मेरा पेट भूख से सिकुड़ गया है।"……"इक्कीसवें साल की रक्तपायी जिह्वा हवा में फैल गयी है।" कहना न होगा कि इन तीनों स्थानों पर 'इक्कीस' शब्द, जिसे अत्यधिक प्रभावशाली होना चाहिए था,

अवश्य लगाया जा सकता है। डॉ० पुट्टप्पा ने पुरस्कार-ग्रहण के अवसर पर कहा था कि *'श्रीरामायण दर्शनम्' पूर्व और पश्चिम का, सार्वकालिकता और सार्वधार्मिकता का समन्वय है।* वे रामायण की विभिन्न परम्पराओं के ऋणी हैं। उनका यह कथन इस 'पूर्वरंग' को पढ़कर सच प्रतीत होता है। इसमें महाकाव्य के लक्षणों का भी निर्वाह है और नवीनता का भी, इसमें परम्परागत आस्था भी है और नयी दृष्टि भी। स्वयं कवि के शब्दों में यह कृति 'पिंजरा पुराना; किन्तु पक्षी नया / विग्रहों में देवता का आवाहन जैसे' है (पृष्ठ १९)। सरस्वती की वन्दना करता हुआ कवि कुछ पुराने संस्कारों का व्यक्ति लगता है, किन्तु जब हम पढ़ते हैं—

'युग की शक्ति जुटी हुई है जन-मन में, / वह शक्ति जब मूर्त रूप धारण करती / उसी को अवतार मानकर पूजा करें / सृष्टि की समष्टि व्यष्टि रूप में आती।' (पृष्ठ ३३)

तब लगता है कि कवि का यह दावा ठीक है कि 'यह रचना रामायण का नवीनतम अवतरण है।'

प्रस्तुत अंश में मंगलाचरण, वन्दनास्मरणादि के साथ तीव्र प्रवाहयुक्त शैली में दशरथ के पुत्रकामेष्टि यज्ञ राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के जन्म और कुबड़ी मन्थरा के पूर्ववृत्त का वर्णन है। बायें पृष्ठ पर देवनागरी लिपि में मूल कन्नड़ और उसके सामने दाहिने पृष्ठ पर हिन्दी अनुवाद दिया गया है। कन्नड़ के देवनागरी में लिखित रूप को पढ़कर यह अनुभव होता है कि भारतीय भाषाएँ परस्पर कितनी निकट हैं; और यदि उन सबके लिए एक लिपि अपना ली जाए तो हम भारतीयों के लिए बहुभाषाविद हो जाना अत्यन्त सहज हो जाए।

डॉ० सरोजिनी महिषी ने बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। 'श्रीरामायण दर्शनम्' के इस 'पूर्वरंग' को पढ़कर सम्पूर्ण महाकाव्य का रसास्वाद करने की आकांक्षा सहज ही उत्पन्न हो जाती है।

—हरदयाल

औवर्ज की रात[1]

अतीत से टूटने की हर कोशिश वर्तमान से जुड़ने का पर्याय बन ही जाती है, आधुनिकता-बोध के धरातलों को परखने की दिशा में यह भ्रान्ति पाल लेना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। ऐसी ही दिग्भ्रान्त मनःस्थिति में डूबते उतराते मालीराम शर्मा ने जो कुछ देखा है—उसके ये कुछ बिम्ब हैं ईमानदारी के साथ। *कवि की ईमानदारी पर शक करना भगवान पर शक करना है।* यह बात दीगर है कि भगवान को 'हो सकता है ब्रेन हेमरिज हो' गया हो। (पृ० ४१) या 'भगवान का ब्लडप्रेशर कम्पलीट लाइलाज हो' (पृ० ४४) किन्तु कवि के विषय में ऐसी शंका करना अनुचित होगा। हाँ, कवि अगर चाहे तो शंका कर सकता है, 'कृष्ण के बाड़े में सोलह हजार मॉडल होंगे, जिनके ग्रेड कई, कैटेगरी कई, कोई चालू तो कोई आउट आफ डेट।' (पृ० ५४) निश्चय ही यह स्थिति कोई वरेण्य स्थिति नहीं है। किन्तु वस्तुतः वरेण्य क्या है कवि इस विषय में भी कोई विशेष आश्वस्त नहीं है। हिन्दुस्तान की औरत अगर 'बड़ल है, पैकिट है, सिमटा हुआ, लपटा हुआ, एक बन्द लिफाफा, मुंदी हुई आँखें, पकरी हुई पीत', (पृ० १८) तो बुर्जी ढंक

1. औवर्ज की रात, ले० मालीराम शर्मा, प्र० सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बिस्सों का चौक, बीकानेर, प्र० सं० १९७०, आकार डिमाई, पृ० सं० ९६, सजिल्द, मूल्य ७.५०

'ट्यूनोल या ल्यूमीनोल' जैसे स्थलों तक खैर है किन्तु जब कदम कदम पर, 'प्लास्टिक सर्जरी', 'केमफ्लांज' 'होस्टाइल गवाह', 'पिलबाक्स', 'लांचिंग पैड', 'आउट ऑफ बाउण्ड्स', 'कन्सन्ट्रेटेड काफी, मैक्सफैक्टर की धुआंधार हो तो कवि के शब्दों में 'रियली सारी' कह कर स्पेज एज के साथ कदम न मिला पाने की अपनी अक्षमता पर क्षमा मांग लेनी चाहिए। वैसे कवि को ज्ञान अन्य भाषाओं का भी है जैसे 'औबर्ज (कैबरा, रात्रि क्लब) की रात' नामक कविता के प्रारम्भ में ही 'मक़ब़ाति फदल' जैसे शब्दों में वातावरण की पूरी रसमयता तथा विद्रूप की सशक्त तिक्तता के साथ बगदाद की रशीद स्ट्रीट के कलबघर की रात का बड़ा जीवन्त चित्रण हुआ है। शराब में रहती-पलती जिन्दगी, हर शाम की नई दुल्हन, मांस के व्यापार-व्यवहार की इन्सानी हविश के बिम्बों को यथार्थ रूप में उभारा गया है। जीर्णशीर्ण व्यवस्था को, परम्परा को, ट्रेडिशन को, कीचड़ को धो डालने के बाद भी आज की नारी की जो चरम उपलब्धि है वह एक साके से ज्यादा नहीं है—'तैतीस इंच सीना', 'बाइस इंच वेस्ट लाइन' अब वह चाहे कौलर हो, फौलर हो लीगी हो या बोगी। कवि का यह सत्य अतीत से भी टूटता है और वर्तमान से भी, लेकिन जुड़ता कहीं नहीं है। क्योंकि कवि की नियति यही है—'यह है मेरा ऐतिहासिक परिवेश / मैं आज हूँ कल का बेटा त्रिशंकु का वंशधर।'

—सुलेखचन्द्र शर्मा

शैलरेखा[1]

सोलह-सत्रह वर्ष पूर्व लिखी गयी और १९६९ में प्रकाशित रचना का वर्तमान सन्दर्भों में मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन और उलझन भरा काम है। इस बीच कविता के रूप, आस्था और मूल्यवाद में बहुत बदलाव आ गया है। सन् ५३-५४ में भी कविता छायावाद के पश्चात् क्रम से इन तीन स्वरूपों में बदल कर क्रमशः नये युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को प्रतिफलित करने का प्रयत्न कर रही थी। इसी समय जगदीश जोशी ने 'शैलरेखा' की रचना की थी परन्तु लगता है कि जोशी जी की दृष्टि छायायुग की लम्बी आख्यानक कविताओं पर थी। कथा की संरचना में लम्बी अन्तःसाधना, शिल्प के रूपायन में अलंकृति, प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति, अभिव्यंजना में विशिष्ट सन्दर्भों का फैलाव और अन्ततः भाववादी निष्कर्ष छायावादी आख्यानक कविताओं से मेल खाते हैं। फिर भी कवि की अपनी जागरूकता ने उसके संस्कारों को ताजगी दी है। उसकी कल्पना और रचनादृष्टि ने अन्तराल को भरने का प्रयास किया है। और सबसे मुख्य है— उसकी अपनी धरती और अपने विन्ध्य के प्रति गहरी आत्मीयता—जिसने पौराणिक कथा के स्तरों के पार विन्ध्यभूमि को बरगा और उत्पीड़न को आत्मसात करने की सामर्थ्य दी है।

'शैलरेखा' इसी मानी में विशिष्ट रचना है कि उसमें कथासूत्रों को एक दूसरे से तर्कसंगत ढंग से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है और स्पष्ट आवरण के भीतर झांक कर मनोयोग पाने का प्रयास किया गया है। वह इस मानी में भी अच्छी रचना है कि उसमें कल्पना की सुघरता के साथ भाषा की प्राणवत्ता भी है। हां, कहीं कहीं कथा का उलझाव है। पूर्वार्द्ध में भाषा विशेष बोझिल

१. शैलरेखा, ले० जगदीश जोशी, प्र० लहर प्रकाशन, ५ मिन्टो रोड, इलाहाबाद-२, प्र० सं० नवम्बर १९६९, आकार डिमाई, पृ० सं० ८०, सजिल्द, मूल्य ४.००

दिया। फिर भी, उसकी भाषा शैली में सम्प्रेषणीयता का अभाव होते हुए भी सर्जनात्मक प्रतिभा की कमी नहीं।

सारी कृति में जानबूझ कर ठोके गए—रारस्य पान, व्यापृति, स्तोक मात्र, प्रसून कार्मुक, ज्योतिरिङ्गण, अध्वग, विप्लावित, जित्वर आदि शताधिक कठिन शब्दों की संवेदनहीन अभिसन्धि कृतित्व में आरोपित पांडित्य का परिचय तो अवश्य कराती है किन्तु कविता का नहीं।

शब्द और अर्थ की असम्पृक्तता के कारण डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का यह कथन कि "व्यास की कलाकृति 'उर्वशी' में नाट्यतत्त्व, काव्यतत्त्व तथा गीतितत्त्व की त्रिवेणी इसे अभिनन्दनीय रूप प्रदान करती है", कोरी प्रशंसामात्र है।

सायास जटिलता से आक्रान्त कृति 'उर्वशी' के विषय में संस्कारशील कवि व्यास की यह उक्ति—'संक्षेप में उर्वशी की कथावस्तु महर्षि वेदव्यास से लेकर एक अभिनव व्यास का नगण्य प्रयास मात्र है'—यथार्थ लगती है।

—*जगत्प्रसाद सारस्वत*

किरण बांसुरी[1]

'किरण बांसुरी' समय समय पर लिखी कविताओं का संकलन है, जिसमें कुल ५१ कविताएँ हैं। सामान्य रूप से इसमें तीन प्रकार की कविताएँ हैं: (१) प्रेमानुभूतियों की कविताएँ (२) प्रकृतिसम्बन्धी कविताएँ और (३) राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कविताएँ।

प्रथम प्रकार की कविताओं में कवि ने अपने तरुण हृदय की विविध प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति सफलता के साथ की है। 'मनुहार', 'मिलन-वेला', 'रजनीगंधा के पास', 'गीत गाता हूँ', 'भू को स्वर्ग बनाऊँगा', आदि कविताएँ इस दृष्टि से सुन्दर हैं। तीसरे प्रकार की कविताएँ देश के प्रति सहज श्रद्धाभाव की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। 'बापू', 'कवीन्द्र रवीन्द्र', 'जवाहर लाल नेहरू' आदि ऐसी ही रचनाएं हैं। कवि की मुख्य प्रवृत्ति प्रकृतिप्रेम है। यहाँ तक कि वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी प्रकृति के परिवेश में ही हुई है। कवि प्रिया से किसी घुटनपूर्ण वातावरण से युक्त होटल अथवा सिनेमा हाल में चलने को न कहकर 'रजनी-गंधा के पास' चलने को कहता है जहाँ मधु है, मधुयामिनी है, सरिता है, मिलन के लिए हर पल ललकने वाले सरिता के कूल हैं, तृण और लताएँ हैं, जिनके साथ में सभी कुछ 'प्यारा-प्यारा' लगता है। 'चलो पिया बगिया में' एक ऐसी ही दूसरी सुन्दर रचना है। कवि प्रकृति में उस अदृश्य चित्रकार का आभास भी पाता है। ('चितेरा') इस प्रकार कवि प्रकृति के विविध रूपों से सम्बद्ध है।

कवि अपने प्रयास में सफल है। आलोच्य संकलन में छायावादी कल्पना-वैभव और भावुकता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। गीतों की सरसता मन को छूती है। सरस गीत इस धरती के लिए जीवन हैं जिनको गुनगुनाकर आज तक मानव ने मन की नीरवता और सूनेपन को दूर किया है।

यही कारण है कि कवि ने जो गीत दिये हैं वे इस धरती के गीत हैं, धरती वालों के हैं और धरती वालों के लिए हैं। कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार है, इसी कारण अभिव्यक्ति में सर्वत्र स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है।

—शम्भुशरण शुक्ल

---

१. किरण बांसुरी, ले० परमेश्वर राय 'राजेश', प्र० समकालीन प्रकाशन, सी १४।१६०, बी-२ सत्यानंद मार्ग, वाराणसी, प्र० सं० १९६८, आकार डिमाई, पृ० सं० १०२, सजिल्द, मूल्य २.००

रचना पर पुनर्विचार। काव्यभाषा और कविधर्म पर डॉ० विजेन्द्र ने बहुत जम कर विचार किया है। इस विवेचन से उन्हें चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। कुन्तक और क्रोचे की चर्चा तो बहुत बार हुई है, किन्तु डॉ० विजेन्द्र ने इलियट, रिचर्ड्स, डिक्विसी आदि के सन्दर्भ में भी कुन्तक के प्रदेय का श्लाघ्य विचार किया है। कुन्तक के भाव और भाषा के परस्पर-स्पर्धित्व-समभाव और एलेन टेट, हर्बर्ट रीड, डिलान टॉमस, सेसिल डे, लीविस आदि आधुनिक चिन्तकों-कवियों के विचारों में साम्य को रेखांकित कर उन्होंने आधुनिक काव्य में कुन्तक की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल को कुन्तकविरोधी सिद्ध करने के प्रयास का भी सप्रमाण खंडन करने में लेखक को सफलता मिली है। इस ग्रन्थ के दूसरे अध्याय के लिए मैं डॉ० विजेन्द्र को विशेष रूप से बधाइयाँ देना चाहता हूँ।

ग्रन्थ के दूसरे खंड में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के विभिन्न अवयवों यथा वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वस्तुवक्रता, प्रकरणवक्रता प्रबन्धवक्रता का विनियोग छायावाद के प्रमुख कवियों की रचनाओं में किस प्रकार हुआ है इसे दिखाने का प्रयास किया गया है। इसके पहले किसी विद्वान् ने वक्रोक्ति के आधार पर छायावाद के काव्यसौन्दर्य का उद्घाटन इतने विशद रूप से नहीं किया था। दृष्टिभेद से दृश्यभेद हो ही जाता है। और यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा छायावाद की कई उपलब्धियों को चिह्नित करने में ग्रन्थकार ने सूझबूझ का प्रमाण दिया है।

इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हुए मैं दो चार बातें कहना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह कि 'काव्य का काव्यत्व अन्ततः वक्रोक्ति ही है' (पृ० १२२) जैसी धारणा समसामयिक भाषिक समीक्षकों के अनुकूल होने पर भी उन लोगों को स्वीकार नहीं हो सकती जो उक्ति की गरिमा केवल उसकी वक्रता के कारण ही नहीं, उसके गौरव के कारण भी मानते हैं। उक्ति की विचित्रता पर बहुत बल देने के कारण ही इधर बहुत से कवि वैसी कलाबाजियाँ दिखाने लगे हैं जिनकी भर्त्सना स्वयं डॉ० विजेन्द्र को अपने प्रबन्ध के पृ० ३०७ पर करनी पड़ी है। दूसरी बात यह कि पुराने सिद्धान्तों से मिलती जुलती बातें नये लोग कहने के लिए विवश हैं क्योंकि काव्य के आधारभूत तत्त्व, रचनाप्रक्रिया, उद्देश्य आदि आज भी मूलतः वे ही हैं जो पुराने समय में थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देश-काल, पात्र की भिन्नता का कुछ प्रभाव या महत्त्व न हो। पुरानों से मिलती जुलती होने पर भी नयों की बातें भिन्न हैं। अतः ऐसे अतिव्याप्त मन्तव्यों से हमें बचना चाहिए कि "इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में अतिख्यात इलियट का यह सिद्धान्त (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव का सिद्धान्त) भारतीय रसचक्र के विभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" (पृ० ११८) सच्चाई यह है कि ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव और विभाव में बहुत अन्तर है।

इसी तरह "स्वभाव का ही वर्णन स्वभावोक्ति कहा जा सकता है", कुन्तक की यह बात अपने ढंग से ठीक है किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि, 'वस्तु का उत्कर्ष स्वभावोक्ति है, अलंकारों की विच्छित्ति वक्रोक्ति' या 'स्वभावोक्ति अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकार' (पृ० १२६) ठीक नहीं जान पड़ता। वस्तुतः स्वभाव अलंकार्य है, स्वभावोक्ति नहीं और फिर वक्रोक्ति को अलंकारों की विच्छित्ति या अलंकार मात्र मान लेना इस प्रबन्ध की प्रतिज्ञा के ही प्रतिकूल है।

इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में कई स्थानों पर संस्कृत के लम्बे उद्धरण देकर उनका अर्थ

है, अपितु वैज्ञानिक विकासवाद, वैज्ञानिक शक्तिवाद एवं विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी आगे बढ़ाता है। (ग) परम्परागत सिद्धान्तों की नयी व्याख्या। साहित्यशास्त्र के परम्परागत सिद्धान्तों में पर्याप्त अस्पष्टता, अनिश्चितता एवं अप्रामाणिकता आ गयी है। इस प्रसंग में, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुकृति, उदात्त, कल्पना, बिम्बविधान, प्रतीक आदि का विश्लेषण करते हुए लेखक ने उनके आधारभूत तत्वों का निर्णय और सीमाओं का निर्धारण किया है जिससे उनका स्वरूप स्पष्ट और क्षेत्र निश्चित हो सके।

ग्रन्थ में तीन खंड हैं : (१) साहित्य की आकर्षण-शक्ति, (२) साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्व और (३) साहित्यशैली के सिद्धान्त। इनका विशद विवेचन क्रमशः नौ, नौ और सोलह अध्यायों में है। परिशिष्ट में (क) तालिका रूप में साहित्य विज्ञान के निष्कर्ष, (ख) भारतीय साहित्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूपरेखा एवं (ग) सहायक ग्रन्थसूची समाविष्ट हैं।

लेखक का अध्ययन व्यापक भी है और गम्भीर भी। उसने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का सम्यक् आलोड़न किया है और अपनी प्रतिज्ञा के प्रतिष्ठापन में सूक्ष्म, सक्रिय चिन्तन का परिचय दिया है। साहित्य-शास्त्र के परिष्कार का यह प्रयास स्तुत्य और अभिनन्दनीय है। लेखक के विचारों से सहमति या असहमति दूसरी बात है किन्तु उसकी विचार-सरणि निस्सन्देह प्रभावी है। यों, अपनी बात कहूँ तो साहित्यशास्त्र को विज्ञान का जामा पहनाने का आग्रह ही मुझे बहुत नहीं जँचता। विज्ञान स्वयं सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है; उसका क्षेत्र भी सुनिर्दिष्ट और एकरूप नहीं है। उदाहरणार्थ, भौतिकविज्ञान और मनोविज्ञान, दोनों विज्ञान माने जाते हैं पर दोनों की वैज्ञानिकता समान कोटि की नहीं है। एक फ़िज़िकल साइन्स है तो दूसरा इम्पिरिकल साइन्स। दोनों के द्रव्य में ही नहीं, प्रक्रिया और पद्धति में भी साम्य से अधिक वैषम्य है। वस्तुतः इम्पिरिकल साइन्स फ़िज़िकल साइन्स की परिशुद्धि को कभी पा ही नहीं सकता क्योंकि अनुभवाश्रित होने से उसके बहुत सारे निष्कर्ष वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होते हैं; साथ ही, अनुभव में भेद के कारण उनकी व्याख्या एवं विश्लेषण में भी भेद आता है जिसके चलते परिणाम और निष्कर्ष का भेद दुर्निवार हो जाता है। शास्त्रभेद का कारण विषय-भेद ही नहीं, प्रक्रिया-भेद भी है अन्यथा सभी शास्त्र एक में ही गतार्थ हो जाते। इसलिए विज्ञान शब्द से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं है। नैयायिकों ने जब व्यंजना को अनुमान में गतार्थ करने का प्रयास किया था तो उसके पीछे वैज्ञानिकता का ही आग्रह था। उन्हें साहित्य-शास्त्र की भाषा अनिश्चित, अस्पष्ट प्रतीत हुई और उन्होंने व्यंजना को पंचावयव वाक्य के कठोर (और वैज्ञानिक ?) शिकंजे में कसने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखी किन्तु जैसा साहित्य-शास्त्र का प्रत्येक अध्येता जानता है, उनका प्रयास मान्य नहीं हुआ क्योंकि उसमें असंगतियों की भरमार दिखायी पड़ी। तात्पर्य कि प्रत्येक शास्त्र के समान साहित्यशास्त्र का भी अपना वस्तु-तत्व है, अपनी विश्लेषण-प्रक्रिया है, अपनी अभिव्यंजना-पद्धति है। उसमें निश्चितता, स्पष्टता तथा परिष्कार का प्रयास तो होना ही चाहिये किन्तु उसे दूसरे अनुशासन के साँचे में ढालना उसकी स्वायत्तता के लिए कहाँ तक वांछनीय होगा, यह विचारणीय है।

यह मेरी अपनी दृष्टि है पर इससे डॉ॰ गुप्त के प्रयास की सार्थकता क्षुण्ण नहीं होती। ग्रन्थ का विषय जितना जटिल है, अभिव्यंजना उतनी ही स्वच्छ और प्रांजल है। साहित्यशास्त्र

राजशेखर के व्यक्तित्व तथा उनके विपुल साहित्य का यह एकत्र अध्ययन परिचयात्मक होने पर भी संस्कृत तथा प्राकृत के छात्रों के लिए पर्याप्त उपयोगी है। काव्यशास्त्र में रुचि रखने वाले हिन्दी के छात्रों के लिए भी आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा के अध्ययन में आलोच्य पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

—*शोभाकान्त मिश्र*

साहित्यालोचन : सिद्धान्त और अध्ययन[1]

साहित्य के विविधांगों का सम्यक् विवेचन डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाब राय प्रभृति विद्वानों ने अपने स्मरणीय ग्रन्थों में किया है। इसी क्षेत्र में पदार्पण करते हुए डॉ० सीताराम दीन ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ हिन्दी जगत् को भेंट किया है। ग्रन्थ में तेरह अध्याय हैं; कला, साहित्य, काव्य, दृश्यकाव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, गद्यकाव्य, रस, शैली, आलोचना आदि का स्वरूप तथा उनके सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया गया है। लेखक ने कुछेक नवीनतम विधाओं का भी समुल्लेख किया है यथा अध्याय ९ में जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र तथा अध्याय १० में रिपोर्ताज, यात्रा साहित्य, रेडियो वार्ता आदि का अध्ययन।

काव्य और साहित्य की परिभाषा भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों के विचारों के परिप्रेक्ष्य में की गयी है। काव्य और रस का विवेचन दो पृथक् अध्यायों में अधिक विस्तार से करके जिज्ञासु छात्रों के लिए उपादेय तथा ज्ञानोन्मेषक सामग्री प्रदान की गयी है। काव्य की आत्मा का विवेचन करते हुए लोंजाइनस, हेगेल, ब्रैडले आदि के मतों को भी समाविष्ट किया गया है। परन्तु कहीं कहीं भ्रामक उक्तियाँ पुस्तक के महत्त्व को कम करती हैं। यह कहना कि 'हमारे विचार से काव्य में मौलिकता का प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता' (पृ० ५५) सर्वथा युक्तिरहित है। कोई भी साहित्य का सुधी पाठक इस विचार से सहमत नहीं होगा। इस अध्याय में महाकाव्य का वर्णन करते हुए पंत कृत 'लोकायतन' में महात्मा गांधी को नायक माना गया है (पृ० ७०), जबकि उक्त काव्य में नायक वंशी है; उसमें भी गांधी नहीं, स्वयं पन्त की प्रतिच्छवि झलकती है। खण्ड काव्य के स्थान पर 'एकांगी काव्य' (पृ० ७२) अप्रचलित अभिधान रखने में भी कोई औचित्य नहीं। प्रगीतकाव्य का वर्गीकरण अधूरा है—उसमें प्रमुख गीतिकारों (यथा भवानीप्रसाद मिश्र) के नाम सम्मिलित नहीं हैं। इस अध्याय में रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और नई कविता का अच्छा विवेचन है, परन्तु छायावाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मूर्धन्य आलोचकों—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र के मतों की उपेक्षा की गयी है, जो एक अखरने वाली बात है। अस्तित्ववाद से लेखक ने जान बूझकर कन्नी काटी है। अस्तित्ववाद के बिना नई कविता की चर्चा, उसका विश्लेषण एकांगी बनकर रह गया है। दिनकर को मूलतः छायावादी कवि मानकर एक भ्रान्त धारणा प्रकट की गयी है। यहाँ लेखक के मत में विरोध भी है, एक ओर दिनकर को वादों से मुक्त भी माना है और दूसरी ओर उन पर छायावादी होने का अमान्य 'लेबिल' भी लगाया है। लेखक का दिनकर के लिए प्रयुक्त 'चारण' विशेषण भी आपत्तिजनक ज्ञात होता है, जबकि इस शब्द को अभिधा से मुक्त कर इसकी सार्थकता समझनी चाहिए। दृश्यकाव्य का

---

१. साहित्यालोचन : सिद्धान्त और अध्ययन, ले० सीताराम दीन, प्र० अनुपम प्रकाशन, पटना ६, प्र० सं० १९७१, आकार डिमाई, पृ० सं० ३१४, मूल्य ८ रु०

करते है। निश्चित रूप से अब वह समय आ गया है जब प्रयोगवादी किलेबन्दी पर स्थिर मन से विचार किया जाए तभी सारी साजिशों का भंडाफोड़ हो सकेगा। खेमे के बहुत लोगों ने पूरी पीढ़ी के साथ कितना घृणित और तुच्छ गेम खेला है। यदि धनंजय जी के ये लेख पत्रिकाओं के लिए न लिखे गये होते तो शायद इनमें और तेजी होती। मालिक और सम्पादक साहित्यिक समीक्षा को व्यक्तिगत स्तर पर लेकर अपने ईर्ष्या-सेतु बनाते रहे हैं। यही कारण है जिससे काफी कुछ सही साहित्य अभी प्रकाश में ही नहीं आया जो कि लिखा जा चुका है।

'युवा लेखन की दिग्भ्रमित स्थितियों के संकेत सही गलत चेहरों से मिल जाते हैं।' यह नोट छद्म-लेखन पर हथौड़े की चोट है। वस्तुतः यही वह भाषा है जिसके माध्यम से नयी (?) अभिव्यक्ति के कोणों की ईमानदारी की तलाश की जा सकती है। समता, समाजवाद की स्थापना के लिये उसके नाम पर उत्पीड़न और शोषण का जो नक्शा आज के आधुनिक (?) ने खींचा है वह सही नहीं है। 'लाइम लाइट' में आने के तौर तरीकों की दाँवपेंच का पता उस वक्त चलता है जब आधुनिकों में से ही हम 'असली-नकली पहचानो' अभियान शुरू करते हैं। दिक्कत है कि जेबकतरे भी जेब कट जाने का शोर मचाने लगते हैं। किन्तु यह स्थिति ज्यादा दिनों तक नहीं रहती। युवालेखन का गलत चेहरा 'आस्वाद के धरातल' का लेखक अच्छी तरह पहचान रहा है। एक युवा लेखक के नाते मुझे इस बात की बेहद खुशी है। 'स्यूडो पोइट्री' का सवाल, मुक्तिबोध के प्रति आज की श्रद्धा-तड़पन, कविता के अनावश्यक खेमे आदि ऐसे विषय हैं जिनपर लेखक ने संकेत मात्र प्रस्तुत किये है। अब इन पर खुलकर बहस की जानी चाहिए। प्रस्तुत कृति के द्वारा उसके लेखक ने आज की समीक्षा को एक सही दिशा दी है।

—ललित शुक्ल

अज्ञेय की काव्य तितीर्षा

लगता है अज्ञेय के काव्य के सम्बन्ध में वर्षों की एकान्तिक धारणाएं पुन. आलोचनात्मक दृष्टि से गुजरकर अधिक साफ, अधिक निष्पक्ष और अधिक प्रामाणिक होने लगी हैं। इधर कुछ वर्षों में गण्यमान्य आलोचकों की लीक पीटने की अपेक्षा अज्ञेय की कविता और काव्य-विषयक मन्तव्य का सीधा साक्षात्कार कर उन्हें समझने का प्रयास किया जाने लगा है। नन्द किशोर आचार्य की पुस्तक 'अज्ञेय की काव्य तितीर्षा' भी ऐसे प्रयासों में एक है. अतः इसकी उपयोगिता और सार्थकता भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के चार खंड हैं : काव्य दर्शन, संवेदना की तलाश, अनुभूति का भाषिक रूपान्तरण, ऐतिहासिक दाय का वहन।

प्रथम अध्याय में अज्ञेय के काव्यविषयक विचारों का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण किया गया है। अज्ञेय के काव्यसम्बन्धी अभिमत मूलतः भारतीय है यद्यपि पाश्चात्य विचारों से प्रभाव ग्रहण करने में उन्होंने संकोच नहीं किया है, इस बात का बलपूर्वक विवेचन-इसमें किया गया है। 'जीवनानुभव और कलानुभव', 'कविता का मूल प्रयोजन आनन्दलाभ', 'साधारणीकरण और सम्प्रेषण',

---

१. अज्ञेय की काव्य तितीर्षा, ले० नन्दकिशोर आचार्य, प्र० सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, प्र० सं० १९७०, आकार डिमाई, पृ० सं० १४२, मूल्य १०.००

फिर रा उलटी गंगा बहाने जैसा है। वैशिष्ट्य भाषा के आधार पर कैसे परिभाषित किया जा सकता है यह सबसे बड़ी समस्या है। अज्ञेय की कविता वस्तुतः अनेक प्रकार के बिम्बों से समृद्ध है परन्तु आलोचक ने केवल ध्वनिबिम्बों और प्रकृति बिम्बों का ही लगे हाथों उल्लेख किया है। अज्ञेय के प्रतीकों का उल्लेख करते समय भी विश्लेषण की अपेक्षा संकलन की ओर आलोचक की प्रवृत्ति अधिक हो गयी है। अज्ञेय की कविता की लय की काफी अच्छी चर्चा आलोचक ने की है। किसी आलोचक को चाहिये कि अब इस वाक्-लय के आधार पर जो अनुभूति के समृद्ध पुंज उत्पन्न होते हैं, काव्य में जो भावगत बारीकियाँ आती है और प्रभाव में जो गहनता आती है उनका विश्लेषण करे।

चौथे खंड—ऐतिहासिक दाय का वहन—में अज्ञेय पर किये गये कतिपय आरोपों का खंडन किया गया है। वैसे ऐसे अनेक स्थल हैं जिन पर लेखक से असहमत हुआ जा सकता है फिर भी पुस्तक की उपयोगिता निर्विवाद है। वर्षों से अज्ञेय की कविता के आस्वादन एवं मूल्यांकन में जो पूर्वग्रह बाधक बनते रहे हैं उन्हें दूर करने में पुस्तक बहुत दूर तक सहायक होगी।

—चन्द्रकान्त वान्दिवडेकर

साकेत : एक अध्ययन[1]

डॉ० नगेन्द्र का आज के हिन्दी साहित्य-समालोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया जाता है। उनके कृती व्यक्तित्व के तीन पहलू रहे है—एक कवि, एक सहृदय समालोचक और एक रसवादी आचार्य। इनमें प्रथम तो पूर्णतः प्रस्फुटित होने के पूर्व ही तिरोहित हो गया, पर उसकी सरसता डॉ० साहब के व्यक्तित्व में वैसे ही अन्तर्निहित हो गयी जैसे प्रयाग में सरस्वती अन्तःसलिला होकर विद्यमान है। अन्तर्निहित होकर उनके कवित्व ने उनके समालोचक एवं आचार्य विश्लेषक, दोनों की न केवल शुष्कता दूर की है, वरन् उन्हें रसाढ्यता भी प्रदान की है। उनके व्यक्तित्व के शेष दो पक्षों में प्रथम का सर्वप्रथम समर्थ एवं प्रभावशाली परिचय उनकी जिस समीक्षा-कृति द्वारा हिन्दी साहित्य-पाठकों को मिला, वह 'साकेत : एक अध्ययन' ही है। शायद यही कारण है कि निरन्तर प्रौढ़ि को आयत्त करने के बावजूद यह समीक्षाकृति आज भी उन्हें 'प्रिय' लगती है। आलोच्य पुस्तक इसी समीक्षा-कृति का सर्वथा नया संस्करण है। यह नया संस्करण 'वेशभूषा' की दृष्टि से उल्लेख्य होकर भी 'वस्तु' की दृष्टि से पुनर्मुद्रण मात्र है, जो इसके ऐतिहासिक महत्त्व की संरक्षा के दृष्टिकोण से उचित ही है।

'साकेत' द्विवेदी युग की प्रतिनिधि रचना, राम-काव्य का एक प्रमुख आधारस्तम्भ एवं हिन्दी की महाकाव्य-त्रयी का परमोज्ज्वल रत्न है। कतिपय स्पष्ट दुर्बलताओं के बावजूद भारतीय संस्कृति की मूल प्रेरणाओं के व्याख्याता कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने पारम्परिक राम-कथा की जमीन जिस नये अन्दाज में काटी है और उसका जैसा भाव-शृंगार किया है, वह अभूतपूर्व है। डॉ० नगेन्द्र ने उसकी इस 'अभूतपूर्वता' को अपनी समीक्षा-कृति में निस्सन्देह उद्घाटित कर दिया है। इसमें एक के बाद कुल नौ परस्पर-सम्पूरक विश्लेषणात्मक निबन्ध आये

---

१. साकेत : एक अध्ययन, ले० नगेन्द्र, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, नवीन संस्करण १९७०, आकार रॉयल, पृ० सं० ११८+१४, मूल्य सजिल्द ७,०० : पेपर बैक ६ ००

नई कविता' के अहम्मन्य कवि-वानरों की दृष्टि में दुर्बल समीक्षा का परिचायक भले हो, आदर्श समालोचना का यही प्राण होता है।

—श्यामनन्दन शास्त्री

आधुनिक हिन्दी नाटक[1]

'आधुनिक हिन्दी नाटक' डॉ० नगेन्द्र की प्रारम्भिक आलोचनात्मक कृतियों में एक है। नये संस्करण की भूमिका से ज्ञात होता है कि विद्वान् समीक्षक ने इस संस्करण में कोई परिवर्तन नहीं किया है। इन अट्ठारह वर्षों में अनेक रससिद्ध नाट्यकारों ने अपनी विभिन्न नाट्यकृतियों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। रंगमंच की दृष्टि से भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। नाट्य साहित्य और हिन्दी रंगमंच की इस प्रगति का संकेत इस ग्रन्थ में नहीं हो पाया है। यह कमी खटकती है, पर ग्रन्थ में जो प्राप्त होता है वह सन्तोष के लिए निश्चय ही कम नहीं है।

प्रसाद जी हिन्दी की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक एवं एकांकी नाट्यधारा के प्रवर्तक थे। प्रसाद के मूल्यांकन के प्रसंग में डॉ० नगेन्द्र का यह विचार सर्वथा उचित है कि 'प्रसाद जी की ट्रेजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्यस्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही अन्य भाषाओं और नाटकों की तुलना में भी उनकी ज्योति मलीन नहीं पड़ सकती।' (पृ० १२) डा० नगेन्द्र की वर्षों पूर्व की यह स्थापना ...ाद के नाटकों के सम्बन्ध में आज भी सही और ताजा है।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों का विषय एवं शिल्प के अनुसार विभाजन एवं ...वेचन किया है। विवेचन की यह प्रणाली शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक है। इस क्रम से पूर्णकालिक ...टकों को सांस्कृतिक, नैतिक, समस्या नाटक, नाट्यरूपक आदि विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत ...ीक्षित करते हुए अपनी मौलिक नाट्यचिन्तन-पद्धति का परिचय दिया है।

प्रसादोत्तर सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-नैतिक नाट्य प्रणेताओं में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उग्र, ...यारामशरण गुप्त, उदयशंकर भट्ट, हरेकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्द दास, गोविन्दवल्लभ ...न्त, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, और अश्क प्रमुख हैं, जिनके नाटकों की समीक्षा आलोच्य ग्रन्थ ... प्रस्तुत की गयी है। विद्वान् लेखक की दृष्टि में चन्द्रगुप्त जी के सांस्कृतिक नाटकों—अशोक और ...शा—में रंगीन कल्पनाविलास और पाश्चात्य नाट्यशैली की दुःखानुविद्धता का अद्भुत योग ...म्पन्न हुआ है। सम्भवतः इसका कारण गुप्त जी का बहुरंगी व्यक्तित्व भी हो। (पृ० १७) ...द्यपि इन नाटकों की विषयभूमि एक सी नहीं है, प्रधान पुरुष एवं नारी पात्रों का मानसिक ...ंगठन भी एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी है परन्तु 'इनकी सांस्कृतिक चेतना भी भी वही छायावाद युग ...की भावना है', भले ही कालक्रम की दृष्टि से वे प्रसादोत्तर हों। लेखक ने सम्बद्ध नाट्यकारों ...की कृतियां तथा उनके विविध व्यक्तित्वों की पृष्ठभूमि में मीमांसा करते हुए अपने तात्त्विक निष्कर्ष का स्पष्ट संकेत किया है।

राष्ट्रीय-नैतिक भावनाओं से अनुप्राणित हो हरिकृष्ण प्रेमी, मिलिन्द, सेठ गोविन्द दास, अश्क और भट्ट आदि नाटककारों ने अनेक नाटक लिखे। इस श्रेणी के नाटकों के सम्बन्ध में

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, ले० नगेन्द्र, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, नवीन संस्करण १९७०, डिमाई, पृ० सं० ११४, सजिल्द, मूल्य १.००

यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार योग्य है कि आज से दो दशक पूर्व की यह आलोचनात्मक कृति हिन्दी नाट्यालोचन के क्षेत्र में आज भी पथनिर्देशक का कार्य करती है। अनेक आलोचनात्मक नाट्यकृतियों के प्रकाशन के बावजूद यह अपनी तत्त्वनिरूपण शैली तथा कृति के अन्तराल की मर्मभेदिनी दृष्टि के कारण अभी भी अपना सानी नहीं रखती।

—सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

सुमित्रानन्दन पन्त[1]

डॉ० नगेन्द्र के इस ग्रन्थ का पहला संस्करण १९३८ में प्रकाशित हुआ था और स्वभावतः यह अध्ययन उस काल तक प्रकाशित कृतियों पर आधारित था। इसके बाद 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' के प्रकाशन काल तक इसके कई संस्करण निकले हैं जिनमें यथावश्यक संशोधन और संवर्धन भी हुआ। पर १९७० में निकलनेवाले इस नये संस्करण में आगे की रचनाओं का उल्लेख तक नहीं है। इसका श्रेय निश्चय ही डॉ० नगेन्द्र की व्यस्तता को है।

प्रवृत्तिपरक अध्ययन करनेवाले 'पूर्वार्द्ध' में 'युगान्त' तक की कृतियों के आधार पर पन्त के भावजगत्, चिन्तन, कला, भाषा इत्यादि का विशद विवेचन किया गया है। इस भाग का 'कृतियों का अध्ययन' नामक अध्याय भी इसी कालावधि तक सीमित है। उत्तरार्द्ध 'आज की हिन्दी कविता और प्रगति' शीर्षक अध्याय से शुरू होता है, जो १९४० के 'आज' के परिप्रेक्ष्य को ही प्रस्तुत करता है। बाद के अध्यायों में 'स्वर्णधूलि' तथा 'स्वर्णकिरण' तक की कृतियों का विवेचन हुआ है।

हिन्दी के छायावादी काव्य के उद्भव और विकास काल में पन्त जी की देन अमूल्य रही है। वे वस्तुतः सौन्दर्य और सरसता के कवि रहे हैं, और आज भी विपुल आस्वादक वृन्द के लिए उनकी प्रारम्भिक कविताओं में अतुल आकर्षण शक्ति है। इस काल के उनके कृतित्व का अध्ययन उनके कृतित्व के विकास के सन्दर्भ में ही नहीं, छायावादी युग के काव्य की अन्तर्धाराओं को समझने के लिए भी उपयोगी है। डॉ० नगेन्द्र का अध्ययन तटस्थ आलोचक का न होकर एक सहानुभूतिपूर्ण आस्वादक का ही है। स्वयं पन्त ने इसके प्रथम संस्करण के 'दो शब्द' में कहा है, "उन्होंने मेरे साथ काफी सहानुभूति रखी है।" आलोचक की यह आत्मीयता कवि के कृतित्व के सही मूल्यांकन में भले ही बाधक रही हो, पर कवि के रागात्मक जगत् के हार्दिक परिचय के लिए उपयोगी रही है। स्वच्छन्द कल्पना एवं अनुपम शब्द-माधुरी के लिए प्रसिद्ध पन्त जी की प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ आज भी अपार मोहक शक्ति रखती हैं, भले ही पन्त जी ने उनकी अतिभावुकता से असन्तुष्ट होकर उनका अवमूल्यन किया है। इस माधुर्य जगत् को प्रदर्शित करने में डॉ० नगेन्द्र की लेखनी सफल हुई है।

किन्तु पन्त जी को समग्रता में समझने के लिए यह कृति अपर्याप्त है। 'रजत शिखर' और 'अतिमा' की सीढ़ियों को पार कर कवि ने 'बच्चा और बूढ़ा चाँद' तथा 'लोकायतन' में—जो

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त, ले० नगेन्द्र, प्र० इंडियन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, नवीन संस्करण १९७०, आकार डिमाई, पृ० सं० १७१, सजिल्द, मूल्य ७ रु०

अत्यधिक वाद विवाद का विषय रहा है—पन्त जी ने जिन भाव स्तरों का स्पर्श किया है उनका अवलोकन इस महाकवि को पूर्णतया समझने के लिए अनिवार्य है। यही नहीं, इस विकास के आलोक में उनके प्रारम्भिक विकास को देखें, तो उनका कुछ नया रूप भी हमारे सामने आ जाता है। प्रस्तुत रूप में इस कृति को 'पन्त के कृतित्व के पूर्वार्द्ध पर एक पुरानी दृष्टि' कहें तो अनुचित न होगा।

छन्द की प्रस्तुति उत्तम है, पर अनुक्रमणिका का अभाव खटकता है।

*

विविध

जैनेन्द्र का नवीनतम वैचारिक साहित्य[1]

'समय और हम' के पश्चात् जैनेन्द्र का दूसरा वृहत् ग्रन्थ 'समय, समस्या, और सिद्धान्त' कई अर्थों में उनके चिन्तन के कतिपय नये आयामों को उद्घाटित करता है। दर्शन अगर शुद्ध तात्विक न होकर इहलौकिक समस्याओं को भी अपनी विचारणा की सीमा में समेटे और मुक्ति की परिभाषा भी मात्र आध्यात्मिक न होकर ज्वलन्त सांसारिक प्रश्नों की चुनौती को स्वीकार करे तो जैनेन्द्र का चिन्तन साम्प्रतिक हिन्दीतर उपलब्धियों में भी अद्वितीय माना जा सकता है। पाठक अगर 'समय, समस्या और सिद्धान्त' को 'समय और हम' की दूसरी कड़ी के रूप में स्वीकार करें तो किंचित् आश्चर्य नही होगा। कारण, प्रश्नोत्तर शैली की पूर्वगृहीत जिज्ञासा के समाधानों के अतिरिक्त मूल प्रेरणा भी वही है। समस्याओं के विषय-विस्तार का फलक समय के विस्तार के साथ ही बढ़ा है। फिर भी फैलाव की अपेक्षा गहराई मे जाने की कोशिश पहले से ज्यादा है। समय और वय के साथ चिन्तन अन्तर्मन में पकता है और प्रश्नों से जूझने के साथ साथ समन्वय का यत्न भी बढ़ता जाता है। फिर भी उत्तर से कोई भी प्रश्न समाप्त नहीं हो जाता। 'यह समझ लेना चाहिये कि हमारे सब प्रकार के ज्ञान के आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस चिह्न को ठेल कर आगे से आगे बढ़ाते रहें।' (साहित्य का श्रेय और प्रेय) इसलिए जैनेन्द्र ने अपने इस वृहद् ग्रन्थ में भी किसी समस्या के आखिरी समाधान का दावा नहीं किया है, बल्कि विनम्रता से स्वीकार किया है कि 'मैं जानता हूँ कि ग्रन्थ से ग्रन्थि कटती नही है, उल्टे शायद बनती और कसती भले हो।'

तीन खंडों मे विभाजित 'समय, समस्या और सिद्धान्त' ग्रन्थ के प्रथम खंड में सामयिक राजनीतिक प्रश्न हैं। भारतीय राजनीति के इन ज्वलन्त सामयिक प्रश्नों के उत्तर से आवश्यक नही कि पाठक सहमत हों, बल्कि लगता तो यही है कि भारत की नयी पीढ़ी इन समाधानों पर आपत्ति ही करेगी।

दल-बदल के भारतीय जनतन्त्र की असफलता के मूल में भारतीय राजनेताओं का शस्त्र-सैनिक-प्रेम, कमिक केन्द्रीकरण, सत्ता-लोलुपता और जनता से अलगाव है। जनतन्त्र का भविष्य अहिंसा के मूल्यों मे ही खोजा जा सकता है। हिंसक शस्त्रास्त्र के सहारे जीने वाले जनतन्त्र मे, इसलिए जैनेन्द्र की आस्था नही है। इस समाधान पर आधुनिक बुद्धिजीवी चौंकता है, किन्तु अहिंसा की अव्यावहारिकता और विफलता पर निराश होने की आवश्यकता जैनेन्द्र को महसूस नही होती। 'अहिंसा' शब्द के प्रति भ्रामक धारणा भारतीय मानस की पुरानी बीमारी है। अहिंसा शब्द का प्रयोग जैनेन्द्र ने रूढ़ अर्थ में नही किया है। इस ग्रन्थ में भी अहिंसक समाधानों

---

१. इस शीर्षक के अन्तर्गत जैनेन्द्र की तीन पुस्तकें समीक्षित हैं : (क) समय समस्या और सिद्धान्त, (ख) वृत्त विहार और (ग) बंगला देश : एक यक्ष प्रश्न; तीनों के प्रकाशक पूर्वोदय प्रकाशन, ७/८ दरियागंज, दिल्ली ६; तीनों प्रथम बार १९७१ में प्रकाशित : शेष सूचनाएँ निम्नवत्—(क) आकार डिमाई, पृ०सं० ५४९, सजिल्द, मूल्य ३०.००; (ख) आकार डिमाई, पृ० सं० २४८, सजिल्द, मूल्य २०.००; (ग) आकार डबल क्राउन, पृ० सं० ८४, सजिल्द, मूल्य ४.००

निमित्त साधन बनता हूँ तो यह अपने को विसर्जित करने की भावना अहिंसा है।' (अकाल पुरुष गांधी, पृ० १८६) शक्ति चाहे व्यक्ति की हो या राष्ट्र की, इसी विसर्जन भावना में व्याप्त है। सांसारिक मुक्ति की परिभाषा भी यहीं से निकलती है। 'स्व' को पुष्ट करने वाला कर्म बन्धन-कारक होगा, उस 'स्व' को विसर्जित करने वाला कर्म मुक्तिदायक बनेगा। जैनेन्द्र ने जिस समाज की कल्पना की है वह इसी मान्यता पर आधारित है। कांग्रेसी शासन से यदि जनता में असन्तोष है तो इसलिए कि शासनतन्त्र और गांधीवाद के 'बीच का फ्यूज उड़ गया है।'

तृतीय विश्वयुद्ध की विनाशिनी विभीषिका का एकमात्र उपचार यही है कि अहिंसा की मानवीय भूमिका तैयार की जाए। इसलिए जैनेन्द्र का विश्वास है कि 'इतिहास गांधी पर नींव रखेगा।' बंगला देश का सन्दर्भ हिंसा और रक्तपात का रहा है। किन्तु, हिंसा से हिंसा बढ़ती है। सामान्यतः देखा गया है कि हिंसा को खत्म करने के लिए जब भी हिंसा का प्रयोग किया गया है उससे हिंसा बढ़ी है : 'दुश्मनी मिटाने के लिए जब जब दुश्मन को मिटाया गया है तो पता चला है कि दुश्मनी बढ़ी है, मिटी जरा भी नहीं है।' (अकाल पुरुष गांधी, पृ० ११९)

वर्ग संघर्ष और शोषण के प्रश्न पर जैनेन्द्र का विचार है कि पूंजीवादी व्यवस्था की तरह समाजवादी व्यवस्था में भी शोषण की स्थिति रहती है। 'हर व्यक्ति शोषक और साथ साथ शोषित भी है।' 'गांधीवाद और समाजवाद' शीर्षक अपने एक निबन्ध में जैनेन्द्र ने एक व्याव-हारिक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया है : 'जैसे मध्यवर्ग के एक औसत आदमी की बात लीजिये। दो सौ ढाई सौ मान लीजिये, वह क्लर्की में कमाता है। घर पर उसके महरी बर्तन मांजने आती है और सफाई के लिए मेहतर आता है। यानी एक तरफ वह शोषित है तो दूसरी तरफ शोषक है, एक ओर से दबता है तो दूसरी ओर से दबाता है। सबका यही हाल है....' करोड़पति लखपति का शोषण करता है, करोड़पति का शोषण सरकार करती है और सरकार भी ...या है? क्या उसका शोषण दलीय और प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा नहीं होता? देखें तो ...लेतारियन डिक्टेटरशिप भी व्यवहारतः अपनी मंजिल पर शोषक ही सिद्ध होता है। 'वहाँ भीतर ...शोषण समाप्त न हुआ हो और बाहर नियम-कानून और प्रशासन के बल पर हम उन्हें समाप्त ...मान लें तो इसे एक तरह का बहलाव ही कहेंगे।' (समय, समस्या और सिद्धान्त, पृ० ७८) मार्क्स ...और लेनिन को जैनेन्द्र ईसा और बुद्ध का समकक्षी नहीं मानते। मार्क्स और लेनिन के काम और ...विचार का स्तर सामाजिक था और उसका तल उपयोगिता का है। मानव जीवन के परिपूर्ण ...संस्कार का प्रश्न उसमें नहीं समा पाता है। 'समाजवाद-साम्यवाद आदि से अपरिग्रह और ट्रस्टी-...शिप का विचार अगला और अनिवार्य कदम है।' 'अकाल पुरुष गांधी' में जैनेन्द्र ने अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप की बड़ी साफ सुथरी व्याख्या की है।

काम, प्रेम और परिवार पर जैनेंद्र का चिन्तन आलोचना का मुख्य विषय रहा है। 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में व्यक्त विचार काम, प्रेम और परिवार के सन्दर्भ में विद्रोही भी है और एक हद तक परम्परासमर्थक भी। आधुनिक नारी-स्वातन्त्र्य का प्रधान पक्ष आर्थिक स्वातन्त्र्य है जिसे हितकर नहीं कहा जा सकता। पति को देवता मानने की प्राचीन धारणा इसलिए जैनेन्द्र को ग्राह्य लगती है, क्योंकि 'इसमें व्यक्तित्व को अपने अलग से उभारने की जगह समा और मिटा देने' की भावना थी। नारी के आर्थिक स्वातन्त्र्य के मूल में बौद्धिकता और अर्थ-मानसिकता है और ये दोनों ही भावनाएं नारी को सहयोगिनी और सहचारिणी के रूप में हटाकर भोग्या और भोग्या के रूप की ओर प्रेरित करती है। 'आज की स्त्री जिन देशों में प्रधान

चेतना (या वर्ग-संघर्ष) की भावना को ही हिंसक मानते हैं। उन्मूलन किसी वर्ग विशेष का नहीं, हिंसा का या शोषण का करना है। साम्यवाद के 'साम्य' शब्द में भी मानवीय समानता असम्भव है। 'अन्तर बीच में अगर न हो तो स्नेह और प्रेम के संचार के लिए भी अवकाश नहीं बचता है। प्रेम के नाते बड़ा छोटा और ऊँच नीच भी यदि हो तो अखरेगा नहीं, बल्कि जीवन को समृद्ध कर सम्पन्न करता ही जान पड़ेगा' (अकालपुरुष गाँधी, पृ० ११८) विचित्रता या विविधता को कम करना जगत् की शोभा को कम करने जैसा है। अहिंसा का आधार यही है। अनिष्ट अहिंसा है, मिटाना उसको है। कल्पित वर्गहीनता शासनमुक्त होगी, जिसमें किसी वर्ग की सम्भावनाएँ नष्ट न होंगी और सभी अपनी विलक्षणता में खिलने का अवसर पाएँगे। वर्ग चेतना जैसी चीज जहाँ अकारण और असम्भव होगी, उसी समाज को वर्गहीन कहा जाएगा। इस व्यवस्था में श्रम का कोई वर्ग न रहेगा, वह हर आदमी का लक्षण बन जाएगा।

'समय, समस्या और सिद्धान्त' में सनातन से अधुनातन अनेक ज्वलन्त प्रश्नों के मूल में गाँधी आस्था सर्वत्र विराजमान मिलती है। यह एकान्त आस्था पाठक को अखर सकती है लेकिन जैनेन्द्र की आस्था-श्रद्धा व्यक्ति-गाँधी और गाँधीवाद पर लगभग उतनी ही है जितनी तुलसीदास की राम पर रही होगी। गाँधी राजनीतिक पुरुष नहीं, सांस्कृतिक पुरुष हैं और मानव मूल्यों के व्यावहारिक प्रयोक्ता हैं। जैनेन्द्र इस ग्रन्थ के द्वारा गाँधीवाद के सबसे बड़े व्याख्याकार के रूप में सामने आये हैं। गाँधीवाद के मूल प्रेरणा-स्रोतों की उनकी पकड़ विलक्षण है। 'समय, समस्या और सिद्धान्त' का प्रकाशन गाँधीवाद की वैज्ञानिक उपलब्धि है।

जैनेन्द्र की ब्रह्म-जिज्ञासा अद्वैतवादी धारणा से बहुत पृथक् नहीं लगती। लेकिन ब्रह्म की समग्रता पर उन्होंने जितना आत्मिक बल दिया है वह जैनेन्द्र का निजीपन है। इनका ब्रह्म सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक आदि भौतिक विचारों का भी प्रेरणा-स्रोत है। यह ब्रह्म मात्र उपासना की वस्तु न रहकर सम्बुद्धि और प्रज्ञा का केन्द्र बन जाता है। इस समग्रतावादी स्वरूप ब्रह्म में सर्वतोभावेन आस्था ही जैनेन्द्र की आस्तिकता है। इसी आस्तिकता का हार्दिक प्रतिफलन है आध्यात्मिकता। ब्रह्म की यह वैज्ञानिक व्याख्या तब और स्पष्ट होती है जब अंशी ब्रह्म के अंश रूप व्यक्ति-अहं की सत्ता प्रतिष्ठित होती है। कोई आश्चर्य नहीं कि यहीं से जैनेन्द्र की सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि तैयार होती है और अहिंसा, परस्परता, व्यक्ति-सम्मान आदि के वैज्ञानिक तत्त्व बड़ी सरलता से निकल आते हैं।

'समय और हम' तथा 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में एक मौलिक अन्तर यह दीखता है कि प्रथम प्रश्नोत्तर ग्रन्थ में जहाँ वैचारिक विस्तार है, वहाँ दूसरे बृहद् ग्रन्थ में वैचारिक गम्भीरता। निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस दूसरे ग्रन्थ से जैनेन्द्र के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। इस ग्रन्थ में जैनेन्द्र-दर्शन का तात्त्विक विश्लेषण सम्भव हो सका है, इसमें सन्देह नहीं। चित-वृत्तियों (जैसे मन, बुद्धि, श्रद्धा) के विवेचन के प्रसंग में तथा दुःख के प्रकरण पर जैनेन्द्र के विचार 'समय और हम' में भी आये हैं। 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में इन विषयों के चिन्तन में कुछ विशेष नवीन उपलब्धियाँ नहीं हैं।

'वृत्त-विहार' —दिल्ली में सामयिक राष्ट्रीय अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं पर जैनेन्द्र का चिन्तन है जो मात्र सामयिक और तात्कालिक महत्त्व का न होकर परिस्थितियों, पीठिकाओं और सम्बंधों का आलोड़न-विलोड़न प्रस्तुत करता है। साथ ही परिणतियों का भी संकेत देता है। घटनाएँ वहाँ नहीं होतीं जहाँ दीखती हैं, उनके सूत्र अन्यत्र होते हैं। 'जैसे बादल जो पानी

राजनीतिक पार्टियाँ, दल-बदल के राजनीतिक कुचक्र, सत्ताधीशों के दलदल में फँसा भारतीय जनतन्त्र, पिसती जनता—इन सबका समाधान नागरिक परस्परता और उदारता में ही सम्भव है। अर्थात् 'नागरिक अहिंसा के साथ लोकतन्त्र की स्थिति है और गांधी के सत्याग्रही आचरण में उत्कृष्टि और उत्क्रान्ति है।' भारतीय राजनीति को अगर कानू सान्याल और चारु मजुमदार के प्रश्नों का उत्तर देना है तो अहिंसक शान्ति को व्यवहार के स्तर पर प्रयुक्त करना होगा।

'वृत्त विहार' में समाचार पत्र की दैनन्दिन खुराक के लिए प्रायः जितने प्रकार के सामयिक प्रश्न हो सकते हैं, वे सब अपनी अपनी प्रकृति और सन्दर्भ में मौजूद हैं। शिखर सम्मेलन, अफ्रोशियायी साहित्यकार सम्मेलन, बंगला देश, मध्यावधि चुनाव की सरगर्मी और परिणाम, प्रीवी पर्स, खेलकूद आदि पर कई छोटे छोटे निबन्ध है। इन निबन्धों से पत्रकारिता को नया आयाम प्राप्त हुआ है।

फिर भी 'वृत्त विहार' के लगभग सारे प्रश्न और समस्याएँ 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में प्रधानतः और अवान्तर रूप में उत्तरित हैं। जो समस्याएँ नयी हैं उनपर जैनेन्द्र की क्या प्रतिक्रिया होगी इसे 'समय, समस्या और सिद्धान्त' का पाठक अनुमान से भी बता सकता है। इसलिए 'वृत्त विहार' का प्रकाशन जैनेन्द्र की कोई उल्लेखनीय वैचारिक उपलब्धि नहीं है। इसमें प्रतिपादित मूल विचार जैनेन्द्र के इसके पूर्व सग्रह वैचारिक ग्रन्थों में आ चुके हैं। सामयिक और अस्थायी राजनीतिक प्रश्न उतने वजन के होते भी नही कि विचारक के विचार किसी मौलिकता या नवीनता की उपलब्धि का संकेत करें। इसलिए 'वृत्त विहार' के निबन्धों को 'समय, समस्या और सिद्धान्त' के प्रश्नोत्तरों में भी समेट लिया जा सकता था।

'बंगला देश : एक यक्ष प्रश्न—जनतान्त्रिक मूल्यों के लिए बंगला देश की मुक्ति-यात्रा विगत कुछ महीनों से विश्व-राजनीति की चिन्ता का प्रधान केन्द्र रही है। सम्प्रति बंगला देश का इतिहास पूर्णतः बदल गया है।

बंगला देश के 'यक्ष प्रश्न' का समाधान हो चुका है और सारी पिछली बातें अपनी दुःखगाथा के टीसते दर्द में बहुत कुछ पुरानी पड़ती जा रही हैं। फिर भी 'बंगला देश : एक यक्ष प्रश्न' का महत्त्व एकदम से सामयिक ही नहीं माना जा सकता। परिणाम जिन रास्तों से सामने आया है वह जैनेन्द्र की दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता। अनेक देश (मुख्यतः चीन और अमरीका) बंगला देश की स्वाधीनता के प्रश्न पर पश्चिम पाकिस्तान के समर्थक हो गये, उसका प्रधान कारण यह था कि मुक्ति का रास्ता अहिंसक नहीं था। 'अगर हिंसक कार्यवाही सिर्फ एक ओर होती और सामने उसके डटकर खड़ा हुआ मुक्ति फौज का अहिंसक रूप होता तो विश्वमत इस प्रकार फट नही सकता था।' बंगला देश का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि इसकी मुक्ति का प्रश्न मानवीय उतना नहीं रहा जितना राजनीतिक हो गया। बंगला देश की मुक्ति का सही मार्ग सत्याग्रही मार्ग था। करोड़ के आस पास शरणार्थी अगर बंगला देश से डरकर भाग नहीं आते और अपने देश में ही अहिंसक युद्ध के लिए प्राणपण से सन्नद्ध होते तो भी समाधान अवश्यम्भावी था। मुक्तिवाहिनी अगर अहिंसक होती तो गांधी युद्ध-नीति से यह संग्राम जीता जा सकता था।

बंगला देश के सन्दर्भ में राष्ट्र संघ की निरीहता एक बार फिर प्रमाणित हुई कि सरकारों और सरकारी स्वार्थों की यह कैसी कठपुतली संस्था है।

इसी प्रकार कहीं प्रपंचगिरि जैसे योगी की खबर ली गयी है, तो कहीं वैसे डाक्टर साहब की जो प्रेम की बीमारी में भी पेनिसिलिन का इंजेक्शन देते हैं ! एक से एक मनोरंजक उद्धरण इस पुस्तक से दिये जा सकते हैं, जिनमें हँसी-हँसी में ही मार्के की बातें कह दी गयी हैं और जो शिष्ट हास्य के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

परन्तु पता नहीं क्यों, परसाई जी को इस शब्द ('शिष्ट हास्य') से 'एलर्जी' हो गयी है। इस पुस्तक की भूमिका में वह कहते हैं—"मुझ पर 'शिष्ट हास्य' का रिमार्क चिपक रहा है। यह मुझे हास्यास्पद लगता है। महज हँसाने के लिए मैंने शायद ही कभी कुछ लिखा हो। और शिष्ट तो मैं हूँ ही नही।"

लेकिन ऐसा कहने से ही तो उनकी रचना 'अशिष्ट रोदन' नहीं बन जाएगी, अरण्य रोदन भले ही सिद्ध हो जाय। परसाई जी की पारसाई (नेकनीयती) में किसी को शक नहीं हो सकता, उनकी कला को चाहे जो भी संज्ञा दी जाए। उनकी 'रानी' कुँअर उदयभान की ही नहीं, सबकी दिलबस्तगी करने वाली है, विशेषतः उनलोगों की जो रसमर्मज्ञ हैं। जो मुफ्तलाल हैं, उन्हें भी कम से कम करेलामुखी का जायका तो मिल ही जायगा। जिस चाव से बच्चे 'नानी की कहानी' पढ़ते हैं, उसी चाव से सयाने यह 'रानी नागफनी की कहानी' पढ़ेंगे। सिर्फ पाँच रुपये में ऐसी सरस विनोदमयी रानी अपने 'शो केस' में आ जाय, ऐसा कौन नहीं चाहेगा ? जैसे राजा-रानी के दिन फिरे, वैसे ही सभी पाठक-पाठिकाओं के फिरे ! यही मेरी शुभकामना है।

—*हरिमोहन झा*

किसी बहाने[1]

एक प्राचीन सूक्ति है—"शरदि न वर्षति गर्जति, वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघ.

किन्तु शरद जोशी इसके अपवाद स्वरूप हैं। वह जोश के साथ वर्षा करते हैं, व्यंग्य के शरों की; पर वह शरच्चन्द्र की किरणों की तरह सुखद होती है। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी इक्कीस व्यंग्य-वार्त्ताएँ हैं, जिनमें समाज के विविध वर्गों पर रंगीन फुलझड़ियाँ छोड़ी गयी हैं।

'मेघदूत की समीक्षा' में वैसे आलोचकों की खबर ली गयी है, जो कालिदास पर भी 'जैनेन्द्री गम्भीरता' के साथ अपना फतवा देते हैं—'यूँ तो काव्य कहीं कहीं सुन्दर बन पड़ा है, किन्तु उपमाओं का बाहुल्य खटकता है !' 'पुराने पेड़' में उन खूसट रट्टूमल प्रोफेसरों का खाका खींचा गया है, जो पुराने टेप-रेकर्डर की तरह केवल घिसी पिटी बातें दुहराने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते। 'सोनचिरैया' वाले गीतकार उन पेशेवर माइक-परस्त कवियों के प्रतिनिधि हैं जो कवि सम्मेलनों के मंच पर कलाबाजी और गलाबाजी की बदौलत अपना सिक्का जमा लेते हैं। 'नाटककार' में वैसे अवसरवादी लेखक का चित्रण है, जो गंगा में गंगादास और यमुना में यमुनादास बनकर राजनीतिक परिवर्तनों के अनुसार अपनी कलम को मोड़ देते रहते हैं। 'बैठे से रिसर्च भली' में वैसे शोधकर्त्ताओं पर छींटे कसे गये हैं, जो 'प्रेमचन्द के पात्र' पर अनुसन्धान करते हुए उनके लोटा-गिलास नहीं छोड़ते, क्योंकि पात्र का अर्थ बर्तन भी है ! 'गोशाला के

[1] किसी बहाने, ले० शरद जोशी, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, दिल्ली-६, प्र० सं० १९७१, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० १३४, सजिल्द, मूल्य ४.५०

मन की मौज[1]

प्रस्तुत पुस्तक में राजनाथ पांडेय के सोलह वैयक्तिक निबन्ध संकलित हैं। निबन्धों के शीर्षक से ही विषय की विविधता स्पष्ट है। कुछ निबन्ध राष्ट्रनायकों और साहित्य-सेवियों के व्यक्तित्व से सम्बद्ध हैं, कुछ में लेखक के जीवन के विशिष्ट क्षणों की अनुभूतियाँ निबद्ध हैं तो कुछ यात्रा-संस्मरण हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया···', 'सापक्षो' आदि में लेखक ने दार्शनिक तथ्य को कलात्मक रूप में व्यक्त किया है।

अपनी विविधता में 'मन की मौज' के निबन्ध निबन्धकार के व्यापक अनुभव और गम्भीर अध्ययन का परिचय देते हैं। पांडेयजी महापंडित राहुल सांकृत्यायन की गवेषणा-यात्रा में साथ रहकर बहुमूल्य अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए उन्होंने कुछ निबन्धों में 'आँखिन देखी' कहा है। ऐसे निबन्ध प्राणवान हैं। पांडेयजी स्वयं भ्रमण से प्राप्त अनुभव को ही साहित्य की अन्तरात्मा मानते हैं।

निबन्ध की शैली कुछ बोझिल है। पग पग पर वैदिक, संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू और हिन्दी-साहित्य से प्रचुर उदाहरण दिये गये हैं। ये उदाहरण लेखक के अध्ययन के परिचायक हैं, पर शैली को शिथिल बना देते हैं। लेखक ने एक व्यक्ति की अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं से तुलना करने की पद्धति भी अनेकत्र अपनायी है। उदाहरण के लिए, लालबहादुर शास्त्री को सहदेव के समान कहकर फिर उन्हें संघ के समान कहा गया है। कहीं कहीं अलंकृत भाषा के प्रयोग के क्रम में—शायद पाठक की बौद्धिक क्षमता पर अविश्वास के कारण—शब्द का अर्थ भी स्पष्ट करने का प्रयास है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—सच्चे 'सूर' के समान राष्ट्ररूपी धनी (=स्वामी) के लिए लड़ते लड़ते वे कबीर के पुरजा-पुरजा यानी टुकड़े-टुकड़े हो गये।'

अपने देश के साहित्यकार को किसी विदेशी साहित्यकार के समान कहने पर ही उसकी गरिमा का उत्कर्ष मानने की जो भावना कुछ दिन पहले तक भारत में थी उसे पांडेय जी अभी तक ढो रहे हैं। अतः रामनरेश त्रिपाठी के व्यक्तित्व को उन्होंने पोप और पिरों के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में ही परखने का प्रयास किया है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि पोप और पिरों जैसे महान् साहित्यकारों के साथ तुलना करने से रामनरेश त्रिपाठी की मर्यादा घट गयी; तात्पर्य केवल इतना है कि त्रिपाठीजी के व्यक्तित्व को उनके अपने ही सन्दर्भों में भी परखा जा सकता है।

—*शोभाकान्त मिश्र*

सिख धर्म के दस गुरु[2]

सिख धर्म 'गुरु ग्रन्थ साहिब' के उपदेशों पर आधारित एक विशिष्ट सम्प्रदाय है। आरम्भ से ही जन साधारण से इसका सम्बन्ध रहा है। यह धर्म केवल सिद्धान्त अथवा ईश्वरीय ज्ञान नहीं है,

---

१. मन की मौज, ले० राजनाथ पांडेय, प्र० राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, प्र० सं० १९७१, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० १७१, सजिल्द, मूल्य ६.००

२. सिख धर्म के दस गुरु, ले० बलवन्त सिंह गुजराती, प्र० राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, प्र० सं० १९७१, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० १२१, सजिल्द, मूल्य ३.५०

समीक्ष्य ग्रन्थ दक्षिण भारत के प्रकांड विद्वान् और महान् हिन्दी सेवक श्री शा० रा० शारंगपाणि के निर्देशन में सम्पादित है। सम्पादकमंडल में श्री ए० सी० कामाक्षिराव, डॉ० मलिक मुहम्मद, श्री मे० राजेश्वरय्या, श्री एस० महालिंगम्, श्री एन्० वेंकटेश्वरन, डॉ० चावलि सूर्यनारायणमूर्ति, श्री बी० एम० कृष्णस्वामी, श्री एस० श्रीकंठमूर्ति, डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन, श्री मु० नरसिंहाचार्य, श्री र० शौरिराजन, श्री पी० नारायण जैसे विद्वज्जन और हिन्दी-प्रचारक हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है : 'साहित्य-भाषा खंड', 'संस्कृति-कला खंड' और 'सभा का इतिहास खंड'। प्रथम खंड में २४ लेख हैं जो मुख्यतः दक्षिण भारत के साहित्य के विविध पहलुओं का सम्यक् विवेचन करते हैं। इन लेखों में तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम साहित्य के विविध रूपों का सर्वेक्षण, विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। श्री आरिगपूड़ी रमेश चौधरी कृत 'हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेश के लेखकों की देन', डा० ई० पांडुरंग राव कृत 'हिन्दी और तेलुगू के उपन्यास साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां' डॉ० एम० एम० कृष्णमूर्ति लिखित 'कन्नड़ और हिन्दी वीरकाव्यों की समानधर्मी विशेषताएं', श्री मल्लिस्सेरी करुणाकरन कृत 'गोर्की, प्रेमचन्द और तकषी का आख्यायिका साहित्य', श्री ति० शेषाद्रि कृत 'कम्बन की कविदृष्टि', डॉ चावलि सूर्यनारायणमूर्ति कृत 'हिन्दी और तेलुगू के राम साहित्य में भाव समानता के कतिपय स्थान', डॉ० एस० रामचन्द्रस्वामी कृत 'हिन्दी और कन्नड़ रामकाव्यों में रावण', प्रो० ना० नागप्पा लिखित 'हिन्दी भाषा के नासिक्य स्वर और व्यंजन' आदि निबन्ध अत्यन्त प्रामाणिक और विश्लेषणात्मक हैं। ये लेख यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी पर केवल उत्तरवालों का अधिकार नहीं है। इनमें से अधिकांश निबन्धों को शोध निबन्ध की संज्ञा दी जा सकती है।

द्वितीय खंड 'संस्कृति कला खंड' है जिसमें आठ निबन्ध संकलित हैं। यद्यपि कला और संस्कृति के व्यापकत्व को देखते हुए एतत्सम्बन्धी संगृहीत निबन्ध अपर्याप्त माने जा सकते हैं, पर जो निबन्ध संकलित हैं, उनकी प्रामाणिकता और श्रेष्ठता असन्दिग्ध है। आर० आर० दिवाकर कृत 'एकीकृत भारत क्यों ?', लक्ष्मीकुट्टीअम्मा रचित 'कला-कलित केरल', चन्द्रशेखरन नायर लिखित 'केरल का दाक्षिणात्य : भारतीय कलाओं के परिप्रेक्ष्य में', वेमूरि हरिनारायण शर्मा कृत 'आन्ध्र की चित्रकला : एक परिचय' तथा आर० सी० देव लिखित 'कथकली, यक्षगान और कचूकी' शीर्षक निबन्ध अपनी प्रामाणिकता और श्रेष्ठता के चलते सन्दर्भ निबन्ध बन गये हैं।

'सभा-इतिहास खंड' में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा तथा अन्य संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सम्बन्धी किये गये कार्यों का लेखा जोखा प्रस्तुत किया गया है। मेरे विचार से यह खंड इस ग्रन्थ का सबसे उपयोगी अंश है और इसमें हिन्दी पाठकों को दक्षिण में हिन्दी प्रचार विषयक प्रयत्नों का एकत्र और प्रामाणिक विवरण उपलब्ध हो जाता है। इस सन्दर्भ में रामधारी सिंह दिनकर लिखित 'गांधीजी और हिन्दी प्रचार', पं० रामानन्द शर्मा कृत 'राष्ट्रपिता का सौंपा महाव्रत—सभा', एस० महालिंगम रचित 'सभा के महान संरक्षक व मार्गदर्शक', एन० वेंकटेश्वरन कृत 'हिन्दी आन्दोलन का दक्षिण में बहुमुखी प्रभाव' आदि निबन्ध विशेष उल्लेखनीय माने जा सकते हैं।

ऊष्मा[1]

इस पुस्तक के लेखक प्रो० गणेश प्रसाद दूबे प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एवं भौतिकी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं। वे एक कुशल प्राध्यापक रह चुके हैं। लेखक के रूप में उनका नाम देखकर ही इस पुस्तक से अनेक अपेक्षाएँ हो जाती हैं।

हिन्दी में भौतिकी पर बहुत सी मूल पुस्तकें लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। इन्टरमीडियट कक्षाओं के लिए भी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। फिर भी जागरूक शिक्षक यह महसूस करते हैं कि लीक से हटकर कोई पुस्तक नहीं आ रही है। भौतिकी का क्षितिज जिस तेजी से विस्तृत हो रहा है उसके साथ चलने का आवश्यक आधार लीक से हटकर लिखी गयी कोई पुस्तक ही प्रदान कर सकती है। अँगरेजी में ऐसी पुस्तकें हैं। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों की आशा दूबे जी जैसे विद्वानों से ही की जा सकती है; ऐसी पुस्तक जो वर्तमान पाठ्यक्रम का पिष्टपेषण करने की बजाय नये पाठ्यक्रम की प्रेरणा दे।

समीक्ष्य पुस्तक इन्टरमीडिएट कक्षा के वर्तमान पाठ्यक्रम के अनुकूल है। पुस्तक में विषयवस्तु का निरूपण जिस कुशलता से हुआ है, वह दीर्घकालीन सफल प्राध्यापन के परिणाम-स्वरूप ही सम्भव है। भाषा सरल है। हर अध्याय के अन्त में हल किये हुए आंकिक उदाहरण दिये गये हैं तथा अभ्यास के लिए भी अनेक प्रश्न दिये गये हैं। पुस्तक की एक विशेषता यह है कि करीब हर अध्याय में सम्बद्ध वैज्ञानिक इतिहास की जानकारी दी गयी है। यह रोचक तो है ही, साथ ही आवश्यक भी।

पुस्तक में चित्र अच्छे नहीं बन सके हैं। छापे की भूलें भी रह गयी हैं, जो इस ग्रन्थ की गरिमा के अनुकूल नहीं हैं।

बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी भाषा और साहित्य के एक उपेक्षित अंग की पूर्ति अत्यन्त कर्मठता और कुशलता से कर रही है। इस ज्ञानयज्ञ के अनुष्ठान की सम्पूर्ति के लिए बिहार के विद्वानों, मुद्रकों, प्रूफरीडरों, सबका निष्ठापूर्ण सहयोग आवश्यक है। यह एक सामूहिक उत्तरदायित्व है। हम अकादमी के अधिकारियों और कर्मचारियों को साधुवाद देते हैं कि वे प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी अपना कार्यसम्पादन कुशलता और निष्ठा के साथ कर रहे हैं।

—दीनानाथ राय

आधुनिक तर्कशास्त्र की भूमिका[2]

विवेच्य ग्रन्थ में लेखक ने आधुनिक तर्कशास्त्र के विभिन्न पहलुओं को रोचक ढंग से उपस्थित करने का प्रयास किया है। साथ ही साथ पारम्परिक तर्कशास्त्र से इसके सम्बन्ध को भी

१. ऊष्मा, ले० गणेश प्रसाद दूबे, प्र० बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना-३, प्र० सं० १९७१, आकार डबल क्राउन, पृ० सं० ३१८, सजिल्द, मूल्य १२.५०

२. आधुनिक तर्कशास्त्र की भूमिका, ले० संकठा प्रसाद सिंह, प्र० बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना-३, प्र० सं० १९७१, आकार डिमाई, पृ० सं० ३३८, सजिल्द, मूल्य ११.००

तालिका अथवा सूची के अभाव में वर्गीकरण से अपेक्षित लाभ की आशा नहीं की जा सकती। अतएव यह निर्विवाद है कि पुस्तकालय में संगृहीत पाठ्य सामग्री की जानकारी के लिए तथा पुस्तकालय के अपार और अनन्त पारावार में से, कम से कम समय में, इच्छित ज्ञानरत्न की प्राप्ति के लिये मान्य संहिता के आधार पर सूची का निर्माण और वैज्ञानिक वर्गीकरण अनिवार्य है।

पुस्तकालय-विज्ञान अब एक सर्वमान्य और पूर्ण विकसित शास्त्र बन चुका है। किन्तु इस विषय से सम्बन्धित पुस्तकों का प्रणयन भारतीय भाषाओं में और हिन्दी में नहीं के बराबर है। विशेषतः जब भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में और हिन्दीभाषी प्रदेश के अनेक विश्वविद्यालयों एवं प्रशिक्षण केन्द्रों में पुस्तकालयीय प्रशिक्षण की व्यवस्था है तो हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव और भी अधिक खटकता है। अंग्रेजी में पुस्तकालय विज्ञान के प्रत्येक अंग पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। इसी प्रकार हिन्दी में और अन्य भारतीय भाषाओं में पुस्तकालय विज्ञान के प्रत्येक अंग पर उच्चस्तरीय पुस्तकों के प्रणयन की आवश्यकता है।

श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र कृत 'सूचीकरण : सिद्धान्त एवं अभ्यास' में विषय का सूक्ष्म प्रतिपादन गहरे अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का प्रतिफल है। पुस्तक में वर्णित सामग्री पुस्तकालय विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। पुस्तक अनेक पुस्तकों से लिये गये प्रकरणों का संकलन मात्र न होकर विषय को नये ढंग से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास है। यद्यपि पुस्तकालय-सूचीकरण पर अँगरेजी में भारतीय एवं विदेशी लेखकों की अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं किन्तु हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का प्रायः अभाव है। हिन्दी में सूचीकरण पर दो चार पुस्तकें उपलब्ध हैं पर सूचीकरण के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक गुत्थियों को पूर्णतः सुलझाने में उक्त ग्रन्थों का उपयोग न के बराबर है। इस दृष्टि से भी इस पुस्तक की उपयोगिता निर्विवाद है।

पुस्तक को दो खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड में विषय के सैद्धान्तिक पक्ष की सविस्तर चर्चा की गयी है जिसमें कुल १७ अध्याय है और द्वितीय खंड में व्यावहारिक पक्ष, अथवा लेखक के शब्दों में अभ्यास पक्ष को लिया गया है। द्वितीय खंड में कुल १३ अध्याय हैं। इस प्रकार पुस्तक में, कुल ३० अध्याय हैं। प्रथम खंड में अध्याय ७ से अध्याय १५ तक में वर्णित सामग्री पुस्तकालय में कार्य करनेवाले अप्रशिक्षित और प्रशिक्षित कर्मचारियों तथा पुस्तकालय विज्ञान के छात्रों के लिये व्यावहारिक दृष्टिकोण से काफी उपयोगी है। द्वितीय खंड के अध्याय १ और अध्याय २ भी काफी उपयोगी है जिसमें विषय को व्यापक रूप से समझाने का प्रयास किया गया है।

मुझे विश्वास है कि पुस्तकालयों, पुस्तकालय-विज्ञान शिक्षण संस्थानों तथा पुस्तकों और पुस्तकालयों से प्रेम रखनेवाले सभी सहृदय एवं विज्ञ व्यक्तियों के बीच इस पुस्तक का समुचित आदर होगा।

× × ×

इस विषय पर प्रकाशित दूसरी पुस्तक है श्री श्यामसुन्दर अग्रवाल कृत 'पुस्तकालय सूचीकरण : एक अध्ययन।

इस पुस्तक के अवलोकन से ज्ञात होता है कि लेखक ने ऐसा निश्चय किया है कि सूचीकरण का कोई भी पक्ष अनदेखा अथवा अविचारित न रह जाए। अतएव सूचीकरण के सभी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का सविस्तर विश्लेषण किया गया है। पुस्तक

नीति वाक्यामृत में राजनीति[1]

जैन साहित्य का अध्ययन भारतीय इतिहास के ज्ञान को विशद और परिपक्व बनाता है, यह मान्यता इतिहास के विद्यार्थियों के बीच स्वीकृत हो चुकी है। अतः जैन साहित्य के प्रकाशन तथा उनके आधार पर इतिहास-लेखन की परम्परा जोर पकड़ती जा रही है। प्रस्तुत पुस्तक ऐसे ही प्रयास का फल है।

'नीतिवाक्यामृत' की रचना विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण मे हुई थी। पुस्तक दक्षिण भारत में लिखी गयी, इस कारण इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि उस काल में दक्षिण भारत में राजनीतिशास्त्र पर लिखी जानेवाली पुस्तकें प्रायः नही मिलतीं। यही नहीं, राजनीतिशास्त्र पर प्राचीन भारतीय लेखक मूलतः ब्राह्मण थे जबकि 'नीतिवाक्यामृत' के रचयिता आचार्य सोमदेव जैन मुनि थे। यद्यपि 'नीतिवाक्यामृत' पर कौटिल्य का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित है (जैसे वर्णाश्रम धर्म का समर्थन), तथापि विषय का प्रतिपादन नूतन दृष्टिकोण से हुआ है। उदाहरणार्थ आचार्य के अनुसार, "सब पुरुषार्थों में अर्थ ही प्रमुख है और अन्य दो पुरुषार्थ धर्म और काम इसके अभाव में कदापि नही प्राप्त हो सकते।" (पृ० सं० २८) परन्तु खेद है त्रुटिपूर्ण शैली के कारण डॉ० शर्मा विषय के साथ न्याय करने मे असमर्थ रहे हैं।

पुस्तक मे एक ही बात को बार बार दोहराने का दोष विद्यमान है। इससे भी अधिक खटकता है विशेषणों का प्रयोग।

लेखक के अनुसार आचार्य सोमदेव 'अपूर्व राजनीतिज्ञ' थे। अवश्य ही लेखक ने 'राजनीतिज्ञ' और 'राजनीति शास्त्र के विद्वान' मे भेद नहीं किया और दोनों को समानार्थक माना। यह भूल है।

पृ० १३ पर लेखक का कथन है, "इसके साथ ही आचार्य सोमदेव महान् राष्ट्रवादी भी थे। इसी कारण उन्होने राजा को यह आदेश दिया कि जहाँ तक सम्भव हो वह उच्च पदों पर अपने देश के ही व्यक्तियों को नियुक्त करे।" स्पष्टतः लेखक राजनीतिशास्त्र मे राष्ट्रवाद के स्वीकृत अर्थों से अपरिचित है अथवा उनके प्रति अत्यन्त लापरवाह।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में 'नीतिवाक्यामृत' का कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत आदि ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की सराहनीय चेष्टा की गयी है, परन्तु लेखक ने इस बात का ध्यान नही रखा है कि ये पुस्तकें विभिन्न कालों में लिखी गयीं। अतः इनके निष्कर्षों मे सामञ्जस्य होना अस्वाभाविक है।

इन कारणो से शोधप्रबन्ध मे अपेक्षित गहन विवेचन नही हो सका है। फिर भी ग्रन्थ की उपयोगिता अस्वीकार नही की जा सकती। आशा है, यह अध्ययन भविष्य के अध्ययनों के लिए आधार बनेगा।

—सुरेन्द्र गोपाल

---

१. नीतिवाक्यामृत में राजनीति, ले० डॉ० एम० एल० शर्मा, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र० सं० सितम्बर १९७१, पृ० सं० २४८, मूल्य ११.००

सामान्य पाठक के लिए इसे रोचक और सुबोध बनाकर प्रस्तुत करने में कठिनाइयाँ अवश्य हैं, लेकिन कहीं कहीं ऐसा लगता है कि और सहज विवरण सम्भव था।

'रेडार का इतिहास', 'रेडार के सामान्य सिद्धान्त' और 'रेडार के उपयोग' सामान्य पाठक के लिए भी सुबोध हैं, किन्तु 'रेडार सेट के भाग' और 'चित्र किस प्रकार लिये जाते हैं' सामान्य पाठक को दुर्बोध लग सकते हैं। इन्हें ठीक से समझ पाने के लिए वैज्ञानिक आधार आवश्यक है।

पुस्तक पठनीय है और संग्रहणीय भी।

—दीनानाथ राय

भारत दर्शन[1]

केरल : 'भारत दर्शन' माला के अन्तर्गत प्रकाशित सत्रहवीं पुस्तक है। इसमें लेखक ने केरल के त्योहारों, प्राकृतिक सुषमा, दर्शनीय स्थलों, सामाजिक जीवन, तीर्थ, व्रत और त्योहार तथा कलाओं का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन किया है।

केरल के त्योहारों में प्रमुख है ओणम। श्रावण के महीने में चार दिनों तक यह मनाया जाता है। इसमें सभी जातियों तथा वर्गों के लोग अत्यन्त उत्साह से भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त विषु और तिरुवातिरा भी प्रसिद्ध त्योहार हैं।

प्राकृतिक सुषमा में केरल का स्थान काश्मीर के समानान्तर है। काश्मीर में हिमाच्छादित पर्वतों की सुषमा है और केरल में समुद्र तथा हरी भरी पर्वतमालाओं की। वहाँ के दर्शनीय स्थलों का विवरण यात्रियों के लिए बहुत उपयोगी है। सामाजिक जीवन आदि के चित्रण से भी पर्यटकों को तो सुविधा होगी ही अन्य लोगों को भी इस प्रदेश के विषय में पर्याप्त जानकारी होगी।

लद्दाख : 'भारत दर्शन' माला की अठारहवीं पुस्तक है। इसमें वर्णित विषय को लेखक ने ग्यारह अध्यायों में —पहाड़ और बर्फ, हिमालय की गोद में, सामरिक महत्व, दर्शनीय स्थल, इतिहास की रेखाएँ, समाज और जन-जीवन, धर्म और जाति, भाषा और साहित्य, जवानों की शौर्य गाथा, प्रगति के पथ पर, और सेना का योगदान—बाँटा है। जैसा विभिन्न अध्यायों के शीर्षकों से स्पष्ट है इसमें लद्दाख के भौगोलिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तीनों पक्षों का चित्रण हुआ है। इसके साथ लेखक ने जिस सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात का भी ध्यान रखा है वह है लद्दाख क्षेत्र में सेना के योगदान की चर्चा। इस माला में प्रकाशित अबतक की अन्य पुस्तकों में इस प्रसंग की विशेष आवश्यकता नहीं थी लेकिन लद्दाख का सामरिक महत्व देखते हुए वहाँ पर हमारी सेना के कार्यों का वर्णन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। यह सन्तोष की बात है कि लेखक ने इसका ध्यान रखा है।

रेखाचित्रों की बजाय यदि इसमें कैमरे के चित्र होते तो ज्यादा अच्छा होता।

—दीप्ति शर्मा

---

१. इस शीर्षक के अन्तर्गत चार पुस्तकें समीक्षित हैं :

केरल, ले० के० ओ० बालकृष्ण पिल्लै; लद्दाख, ले० [illegible]; कश्मीर, ले० [illegible], हरियाणा, ले० योगराज थानी; प्र० राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, प्र० सं० १९७१, [illegible], पृ० सं० प्रत्येक की १०४, मूल्य प्रत्येक का ३.००

महकते फूल[1]

'महकते फूल' में भारत की नौ भाषाओं—हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, मलयालम, तमिल, बंगला, मराठी, तेलुगू तथा गुजराती की तीन विधाओं—कविता, कहानी तथा लेख से रचनाएं संकलित हैं। जिन लेखकों की रचनाएं इस पुस्तक में संकलित हैं, वे हैं—श्री अमृतलाल नागर (हिन्दी), सुश्री अमृता प्रीतम (पंजाबी), श्री आबिद हुसैन (उर्दू), श्री करतार सिंह दुग्गल (पंजाबी), श्री जी० शंकर कुरूप (मलयालम), श्री नगेन्द्र (हिन्दी), श्री पी० केशवदेव (मलयालम), श्री पी० वी० अखिलन (तमिल), श्री प्रेमेन्द्र मित्र (बंगला), श्री बा० सी० मर्ढेकर (मराठी), श्री बालंत्रपु रजनीकान्त राव (तेलुगु), श्री भगवतीचरण वर्मा (हिन्दी), श्री रामनारायण वि० पाठक 'शेष' (गुजराती), श्री सुमित्रानन्दन पन्त (हिन्दी), तथा श्री त्रिपुरनेनि गोपीचन्द (तेलुगू)।

कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त सारे नाम साहित्य-अकादमी के पुरस्कार-विजेताओं के हैं और इसलिए, उन्हें किसी अन्य परिचय की अपेक्षा नहीं। यों पुस्तक के अन्त में संक्षेप में सभी लेखकों तथा उनकी प्रमुख प्रकाशित कृतियों का परिचय देकर सम्पादक ने निश्चय ही पुस्तक की उपयोगिता बढ़ा दी है।

संग्रह में संकलित रचनाओं में से प्रायः अधिकांश अपने रचयिताओं का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हैं। इस कारण, पाठक उनके माध्यम से, देश के विभिन्न प्रान्तों एवं भाषाओं के प्रतिनिधि साहित्यकारों की भावना तथा चिन्तन की गहराई में उतर कर भाषा, धर्म, जाति आदि की विविधता के अन्तराल में प्रवाहित भारतीय सांस्कृतिक एकता की अन्तःसलिला का साक्षात्कार करने में सहज ही कृतकार्य हो सकता है। हमारी समझ से यही इस संग्रह का उद्देश्य भी है। पुस्तक में यदि कोई खटकने वाला अभाव है तो केवल यह कि इसमें संकलित नौ भाषाओं की रचनाओं के अतिरिक्त उन कतिपय अन्य भारतीय भाषाओं के प्रतिनिधि साहित्यकारों की रचनाओं को स्थान नहीं दिया गया है, जो साहित्य-अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित किये जा चुके हैं। यदि यह अभाव नहीं होता, तो यह संग्रह निश्चय ही और अधिक पूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होता।

—अनन्त चौधरी

१. महकते फूल, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, ब० सं० [illegible], १९६९, आकार डिमाई, पृ० सं० २०४, पेपर बैक, मूल्य ३.२५

आवश्यक सूचना

बिहार स्टेट टेक्स्ट बुक पब्लिशिंग कारपोरेशन लि० ने बिहार के प्राथमिक विद्यालयों के वर्ग १-२ के लिए निम्नलिखित शिक्षक-मार्ग-दर्शिकाएं प्रकाशित की हैं।

क्र० सं०	दर्शिका का नाम	मूल्य
१.	मेरी प्रवेशिका रानी मदन अमर (शिक्षक-संस्करण)	चार रुपये
२.	मेरी पहली पुस्तक चलो पाठशाला चलें (शिक्षक-संस्करण)	चार रुपये
३.	आओ हम पढ़ें (शिक्षक-संस्करण)	पाँच रुपये
४.	समाज-अध्ययन-दर्शिका (वर्ग १ और २ के लिए)	तीन रुपये
५.	सामान्य विज्ञान-दर्शिका (पहले और दूसरे वर्गों के लिए)	एक रुपया पचास पैसे
६.	नवीन गणित : भाग-१, वर्ग १ के लिए (शिक्षक-मार्ग-दर्शिका)	दो रुपये

उपर्युक्त सभी लिखित शिक्षक-दर्शिकाएं अत्यन्त उपयोगी हैं। इनकी सहायता से शिक्षण-कार्य बहुत सरल हो जाता है।

बिहार स्टेट टेक्स्ट बुक पब्लिशिंग कारपोरेशन
लि०, हाइट हाउस, बुद्ध मार्ग, पटना-१